॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

(अठारहवाँ अध्याय)

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १॥

अर्जुन बोले—

महाबाहो	=हे महाबाहो!	**च**	=और	**पृथक्**	=अलग-अलग
हृषीकेश	=हे हृषीकेश!			**वेदितुम्**	=जानना
केशिनिषूदन	=हे केशिनिषूदन!	**त्यागस्य**	=त्यागका		
सन्न्यासस्य	=(मैं) संन्यास	**तत्त्वम्**	=तत्त्व	**इच्छामि**	=चाहता हूँ।

विशेष भाव—कर्मयोग और ज्ञानयोगके विषयमें अर्जुनने तीसरे अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌को उलाहना दिया है, पाँचवें अध्यायके आरम्भमें यह जानना चाहा है कि दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है, और यहाँ वे दोनोंका तत्त्व जानना चाहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—

कवयः	=(कई) विद्वान्	**त्यागम्**	=त्याग	**त्याज्यम्**	=छोड़ देना चाहिये
काम्यानाम्	=काम्य	**प्राहुः**	=कहते हैं।	**च**	=और
कर्मणाम्	=कर्मोंके	**एके**	=कई	**अपरे**	=कई विद्वान्
न्यासम्	=त्यागको	**मनीषिणः**	=विद्वान्	**इति**	=ऐसा (कहते हैं कि)
सन्न्यासम्	=संन्यास	**इति**	=ऐसा		
विदुः	=समझते हैं (और)	**प्राहुः**	=कहते हैं कि	**यज्ञदानतपःकर्म**	=यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका
विचक्षणाः	=(कई) विद्वान्				
सर्वकर्मफलत्यागम्	=सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको	**कर्म**	=कर्मोंको	**न, त्याज्यम्**	=त्याग नहीं करना चाहिये।
		दोषवत्	=दोषकी तरह		

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

भरतसत्तम	=हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! (तू)	**मे**	=मेरा	**त्यागः**	=त्याग
तत्र	=संन्यास और त्याग —इन दोनोंमेंसे पहले	**निश्चयम्**	=निश्चय	**त्रिविधः**	=तीन प्रकारका
त्यागे	=त्यागके विषयमें	**शृणु**	=सुन;	**सम्प्रकीर्तितः**	=कहा गया है।
		हि	=क्योंकि		
		पुरुषव्याघ्र	=हे पुरुषश्रेष्ठ!		

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

यज्ञदानतपःकर्म	= यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका	**कार्यम्, एव**	=करना ही चाहिये; (क्योंकि)	**तपः**	=तप—ये तीनों
न, त्याज्यम्	=त्याग नहीं करना चाहिये, (प्रत्युत)	**यज्ञः**	=यज्ञ,	**एव**	=ही (कर्म)
तत्	=उनको तो	**दानम्**	=दान	**मनीषिणाम्**	=मनीषियोंको
		च	=और	**पावनानि**	=पवित्र करनेवाले हैं।

विशेष भाव—मनीषीका अर्थ है—विचारशील। जो कर्म अपनी कोई कामना न रखकर दूसरोंके हितके लिये किये जाते हैं, वे कर्म पवित्र करनेवाले हो जाते हैं अर्थात् दुर्गुण-दुराचार, पाप आदि मलको दूर करके महान् आनन्द देनेवाले हो जाते हैं। परन्तु वे ही कर्म अगर अपनी कामना रखकर और दूसरोंका अहित करनेके लिये किये जायँ तो वे अपवित्र करनेवाले अर्थात् लोक-परलोक दोनोंमें महान् दुःख देनेवाले हो जाते हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

पार्थ	=हे पार्थ!		(कर्मोंको)	**इति**	=यह
एतानि	=इन (यज्ञ, दान और तपरूप)	**सङ्गम्**	=आसक्ति	**मे**	=मेरा
कर्माणि	=कर्मोंको	**च**	=और	**निश्चितम्**	=निश्चित किया हुआ
तु	=तथा	**फलानि**	=फलोंकी इच्छाका	**उत्तमम्**	=उत्तम
अपि	=(दूसरे) भी	**त्यक्त्वा**	=त्याग करके	**मतम्**	=मत है।
		कर्तव्यानि	=करना चाहिये—		

विशेष भाव—इस श्लोकमें कर्मासक्ति और फलासक्ति—दोनोंके त्यागकी बात आयी है। कर्मासक्ति और फलासक्ति ही खास बन्धन है, जिससे छूटनेपर ही मनुष्य योगारूढ़ होता है—'**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते........**' (गीता ६। ४)।

शुभ कर्म भी निष्कामभाव होनेसे ही कल्याण करनेवाले होते हैं। अगर निष्कामभाव न हो तो शुभ कर्म भी बन्धनकारक होते हैं—'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)।

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

नियतस्य	=नियत	**न, उपपद्यते**	=उचित नहीं है।	**परित्यागः**	=त्याग करना
कर्मणः	=कर्मका			**तामसः**	=तामस
तु	=तो	**तस्य**	=उसका	**परिकीर्तितः**	=कहा गया है।
सन्न्यासः	=त्याग करना	**मोहात्**	=मोहपूर्वक		

विशेष भाव—'विहित' की अपेक्षा 'नियत' कर्ममें व्यक्तिकी विशेष जिम्मेवारी होती है। जैसे, किसीको पहरेपर खड़ा कर दिया अथवा जल पिलानेके लिये प्याऊपर बैठा दिया तो यह उसके लिये नियत कर्म हो गया, जिसकी उसपर विशेष जिम्मेवारी है। नियत कर्मके त्यागका ज्यादा दोष लगता है। नियतका त्याग करनेसे विप्लव होता है। अतः पैसे कम मिलें या ज्यादा, आराम कम मिले या ज्यादा, अपने नियत कर्मका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। नियत कर्म न करनेके कारण ही आजकल समाजमें अव्यवस्था हो रही है। जिसकी जिस कामके लिये नियुक्ति कर दी, वह उस कामको नहीं करेगा तो क्या दशा होगी? नियतका मोहपूर्वक त्याग करना तामस है, जिसका फल अधोगतिकी प्राप्ति है—'**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (गीता १४। १८)।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

यत्	=जो कुछ	**कायक्लेशभयात्**	= शारीरिक परिश्रमके भयसे (उसका)	**त्यागम्**	=त्याग
कर्म	=कर्म है, (वह)			**कृत्वा**	=करके
दुःखम्	=दुःखरूप			**एव**	=भी
एव	=ही है—	**त्यजेत्**	=त्याग कर दे, (तो)	**त्यागफलम्**	=त्यागके फलको
इति	=ऐसा (समझकर कोई)	**सः**	=वह	**न**	=नहीं
		राजसम्	=राजस	**लभेत्**	=पाता।

विशेष भाव—त्यागका फल 'शान्ति' है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२) और रागका फल 'दुःख' है—'**रजसस्तु फलं दुःखम्**' (गीता १४। १६)। राजस मनुष्यको त्यागका फल 'शान्ति' तो नहीं मिलती, पर रागका फल 'दुःख' तो मिलता ही है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

अर्जुन	=हे अर्जुन!	**कर्म**	=कर्म	**क्रियते**	=किया जाता है,
कार्यम्, एव	='केवल कर्तव्यमात्र करना है'—	**सङ्गम्**	=आसक्ति	**सः, एव**	=वही
		च	=और	**सात्त्विकः**	=सात्त्विक
इति	=ऐसा (समझकर)	**फलम्**	=फलेच्छाका	**त्यागः**	=त्याग
यत्	=जो	**त्यक्त्वा**	=त्याग करके	**मतः**	=माना गया है।

विशेष भाव—तमोगुणमें मूढ़ता (बेसमझी) है और रजोगुणमें स्वार्थबुद्धि है, पर सत्त्वगुणमें न मूढ़ता है, न स्वार्थबुद्धि है, प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद है। सात्त्विक मनुष्य कर्तव्यमात्र समझकर सब नियत कर्म करता है। एक मार्मिक बात है कि कर्तव्यमात्र समझकर जो भी कर्म किया जाता है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। लौकिक साधन (कर्मयोग और ज्ञानयोग) में शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद मुख्य है। इसलिये साधकको प्रत्येक कर्म कर्तव्यमात्र समझकर करना चाहिये। स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेसे तो बन्धन होता है, पर सम्बन्ध न जोड़कर

कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेसे मुक्ति होती है।*

यहाँ शंका हो सकती है कि प्रस्तुत श्लोकमें तो कर्म करनेकी बात आयी है, त्यागकी बात आयी ही नहीं, फिर यह 'सात्त्विक त्याग' कैसे हुआ? इसका समाधान है कि सात्त्विक कर्तामें न मोह है, न स्वार्थ है, न आसक्ति है, न फलेच्छा है, केवल कर्तव्यमात्र है, इसलिये कर्मके साथ कर्ताका कुछ भी सम्बन्ध न होनेसे यह 'त्याग' हुआ। कर्तव्यमात्र जड़-विभागमें ही रहा, चेतनके साथ सम्बन्ध नहीं हुआ। जब चेतन (शरीरी) शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब शरीरसे होनेवाले कर्मोंके साथ उसका सम्बन्ध जुड़ जाता है। अगर वह शरीरके साथ सम्बन्ध न जोड़े, केवल कर्तव्यमात्र करे तो उसका कर्मोंके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ेगा। शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेके कारण इसका नाम 'त्याग' हुआ। इसमें कर्म और फल दोनोंके साथ सम्बन्ध-विच्छेद है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

अकुशलम्	=(जो) अकुशल	**कुशले**	=कुशल कर्ममें	**मेधावी**	=बुद्धिमान्,
कर्म	=कर्मसे	**न, अनुषज्जते**	= आसक्त नहीं होता,	**छिन्नसंशयः**	=सन्देहरहित (और)
न, द्वेष्टि	=द्वेष नहीं करता (और)	**त्यागी**	=(वह) त्यागी,	**सत्त्वसमाविष्टः**	= अपने स्वरूपमें स्थित है।

विशेष भाव—इस श्लोकका तात्पर्य राग-द्वेषका त्याग करनेमें है। मनुष्यका स्वभाव है कि वह रागपूर्वक ग्रहण और द्वेषपूर्वक त्याग करता है। राग और द्वेष—दोनोंसे ही संसारसे सम्बन्ध जुड़ता है। भगवान् कहते हैं कि वास्तवमें वही मनुष्य श्रेष्ठ है, जो शुभ कर्मका ग्रहण तो करता है, पर रागपूर्वक नहीं और अशुभ कर्मका त्याग तो करता है, पर द्वेषपूर्वक नहीं।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

हि	=कारण कि	**न, शक्यम्**	=सम्भव नहीं है।	**सः**	=वही
देहभृता	=देहधारी मनुष्यके द्वारा	**तु**	=इसलिये	**त्यागी**	=त्यागी है—
अशेषतः	=सम्पूर्ण	**यः**	=जो	**इति**	=ऐसा
कर्माणि	=कर्मोंका	**कर्मफलत्यागी**	= कर्मफलका त्यागी है,	**अभिधीयते**	=कहा जाता है।
त्यक्तुम्	=त्याग करना				

* अलौकिक साधन (भक्तियोग) में भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ना मुख्य है। इसलिये भक्तको जप, ध्यान, कीर्तन आदि कर्तव्य समझकर नहीं करने चाहिये, प्रत्युत अपने प्रियतमका काम (सेवा-पूजन) समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये प्रेमपूर्वक करने चाहिये। भगवान्‌की हरेक वस्तु (नाम, रूप आदि) प्रिय लगनी चाहिये। भगवान्‌का काम करनेमें आनन्द आना चाहिये। जैसे, दवा कर्तव्य समझकर ली जाती है, पर भोजन कर्तव्य समझकर नहीं किया जाता, प्रत्युत अपनी भूख मिटानेके लिये किया जाता है। इसलिये भक्तको जप, ध्यान आदि कर्तव्यमात्र समझकर त्यागके उद्देश्यसे नहीं करने चाहिये, प्रत्युत भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जाग्रत् करनेके लिये करने चाहिये। अगर वह जप, ध्यान आदि भी कर्तव्य समझकर करेगा तो भगवत्सम्बन्ध जाग्रत् नहीं होगा, प्रेमका उदय नहीं होगा।

विशेष भाव—यह श्लोक कर्मयोगकी दृष्टिसे कहा गया है। कर्मयोगमें कर्मफलकी इच्छाका त्याग होता है और ज्ञानयोगमें कर्तृत्वाभिमानका त्याग होता है।

'कर्मफलत्याग' का तात्पर्य है—कर्मफलकी इच्छाका त्याग। कारण कि कर्मफलका त्याग हो ही नहीं सकता, जैसे—शरीर भी कर्मफल है, फिर उसका त्याग कैसे होगा? भोजन करनेपर तृप्तिका त्याग कैसे होगा! खेती करनेपर अन्नका त्याग कैसे होगा? अत: साधकको कर्मफलकी इच्छाका त्याग करना है। फलेच्छाका त्याग करनेसे साधक सुखी-दु:खी नहीं होगा। इसलिये गीतामें फलेच्छाके त्यागको ही फलका त्याग कहा गया है।

बाहरका त्याग वास्तवमें त्याग नहीं है, प्रत्युत भीतरका त्याग ही त्याग है। अगर कोई बाहरसे त्याग करके एकान्तमें चला जाय तो भी संसारका बीज शरीर तो उसके साथ है ही। मरनेवालेका अपने शरीरसहित सब वस्तुओंका त्याग हो जाता है, पर उससे मुक्ति नहीं होती। अत: हमारी कामना-ममता-आसक्ति ही बाँधनेवाले हैं, संसार नहीं। इसलिये अपने लिये कुछ न करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है—**'यज्ञायाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (गीता ४। २३)।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मण: फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

अत्यागिनाम्	=कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंको	**मिश्रम्**	=मिश्रित—	**भवति**	=होता है;
कर्मण:	=कर्मोंका	**त्रिविधम्**	=(ऐसे) तीन प्रकारका	**तु**	=परन्तु
इष्टम्	=इष्ट,	**फलम्**	=फल	**सन्न्यासिनाम्**	= कर्मफलका त्याग करनेवालोंको
अनिष्टम्	=अनिष्ट	**प्रेत्य**	=मरनेके बाद (भी)	**क्वचित्**	=कहीं भी
च	=और			**न**	=नहीं होता।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

महाबाहो	=हे महाबाहो!	**सर्वकर्मणाम्**	=सम्पूर्ण कर्मोंकी	**कारणानि**	=कारण
कृतान्ते	=कर्मोंका अन्त करनेवाले	**सिद्धये**	=सिद्धिके लिये	**प्रोक्तानि**	=बताये गये हैं,
		एतानि	=ये	**मे**	=(इनको तू) मुझसे
साङ्ख्ये	=सांख्यसिद्धान्तमें	**पञ्च**	=पाँच	**निबोध**	=समझ।

विशेष भाव—आत्माको अकर्ता बतानेके लिये पाँच कारणोंका वर्णन करते हैं। इन पाँचोंमें कर्तृत्वका त्याग होनेपर कर्मोंका सर्वथा अन्त (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥

अत्र	=इसमें (कर्मोंकी सिद्धिमें)	**तथा**	=तथा	**पृथग्विधम्**	=अनेक प्रकारके
		कर्ता	=कर्ता	**करणम्**	=करण
अधिष्ठानम्	=अधिष्ठान	**च**	=और	**च**	=एवम्

विविधाः	=विविध प्रकारकी	**चेष्टा**	=चेष्टाएँ	**पञ्चमम्**	=पाँचवाँ कारण
पृथक्	=अलग-अलग	**च, एव**	=और वैसे ही	**दैवम्**	=दैव (संस्कार) है।

विशेष भाव—'कर्ता'—अहंकार अपरा प्रकृति है और जीव परा प्रकृति है। जीवका सम्बन्ध (सजातीयता) परमात्माके साथ है, पर वह अहंकारके साथ सम्बन्ध जोड़कर अपनेको कर्ता मान लेता है।

'दैवम्'—अच्छे-बुरे संस्कार सबके भीतर रहते हैं—***'सुमति कुमति सब कें उर रहहीं'*** (मानस, सुन्दर० ४०। ३)। संग, शास्त्र और विचार—इन तीनोंसे अच्छे या बुरे संस्कारोंको बल मिलता है, जिससे नये कर्म होते हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

नरः	= मनुष्य	**विपरीतम्**	= शास्त्रविरुद्ध	**तस्य**	= उसके
शरीरवाङ्मनोभिः	= शरीर, वाणी और मनके द्वारा	**यत्**	= जो कुछ	**एते**	= ये (पूर्वोक्त)
		वा	= भी	**पञ्च**	= पाँचों
न्याय्यम्	= शास्त्रविहित	**कर्म**	= कर्म	**हेतवः**	= हेतु होते हैं।
वा	= अथवा	**प्रारभते**	= आरम्भ करता है,		

विशेष भाव—मनमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि होना मानसिक कर्म हैं।

'न्याय्यम्' पदका अर्थ है—सात्त्विक कर्म, शास्त्रविहित कर्म अथवा शुभ कर्म। **'विपरीतम्'** पदका अर्थ है—राजस-तामस कर्म, शास्त्रनिषिद्ध कर्म अथवा अशुभ कर्म। **'न्याय्यं वा विपरीतं वा'** पदोंका तात्पर्य है—मात्र कर्म।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

तु	=परन्तु	**केवलम्**	=केवल (शुद्ध)	**न, पश्यति**	=ठीक नहीं देखता;
एवम्	=ऐसे पाँच हेतुओंके	**आत्मानम्**	=आत्माको	**अकृतबुद्धित्वात्**	= (क्योंकि) उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है अर्थात् उसने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है।
सति	=होनेपर भी	**कर्तारम्**	=कर्ता		
यः	=जो	**पश्यति**	=देखता है,		
तत्र	=उस (कर्मोंके) विषयमें	**सः**	=वह		
		दुर्मतिः	=दुष्ट बुद्धिवाला		

विशेष भाव—सब कारकोंमें कर्ता मुख्य है। कर्तामें चेतनकी झलक आती है, अन्य कारकोंमें नहीं। वास्तवमें 'कर्ता' नाम चेतनका नहीं है। यह माना हुआ कर्ता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ अपने वास्तविक स्वरूपको कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है कि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, वह दुर्मति है। कारण कि स्वरूपमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही नहीं हैं—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। मूलमें ये नहीं हैं, तभी इनका त्याग होता है। ये कर्तृत्वभोक्तृत्व न भगवान्‌के बनाये हुए हैं, न प्रकृतिके, प्रत्युत जीवके बनाये हुए हैं।

वास्तवमें कर्ता कोई नहीं है; न तो चेतन कर्ता है और न जड़ कर्ता है। अगर कर्ता मानना ही पड़े तो वह जड़में ही माना जायगा। इसको भगवान्‌ने गीतामें कई प्रकारसे बताया है; जैसे—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही

होती हैं अर्थात् प्रकृति कर्ता है (१३। २९); सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंके द्वारा होती हैं; गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् गुण कर्ता हैं (३। २७-२८, १४। २३); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं अर्थात् इन्द्रियाँ कर्ता हैं (५। ९)। तात्पर्य है कि कर्तृत्व प्रकृतिमें ही है, स्वरूपमें नहीं। इसीलिये अपने चेतन स्वरूपमें स्थित तत्त्वज्ञ महापुरुष 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ऐसा अनुभव करता है—**'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता ५। ८)। भगवान् भी कहते हैं कि जब मनुष्य गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता अर्थात् वह क्रियामात्रमें ऐसा अनुभव करता है कि गुणोंके सिवाय दूसरा कोई कर्ता नहीं है और अपनेको गुणोंसे बिलकुल असम्बद्ध अनुभव करता है, जो वास्तवमें है*, तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है (१४। १९)।

साधक खाने-पीने, सोने-जागने आदि लौकिक क्रियाओंको तो विचारद्वारा प्रकृतिमें होनेवाली सुगमतासे मान सकता है, पर वह जप, ध्यान, समाधि आदि पारमार्थिक क्रियाओंको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये मानता है तो यह वास्तवमें साधकके लिये बाधक है। कारण कि ज्ञानयोगकी दृष्टिसे क्रिया चाहे ऊँची-से-ऊँची हो अथवा नीची-से-नीची, है वह एक जातिकी (प्राकृत) ही। लाठी घुमाना और माला फेरना—दोनों क्रियाएँ अलग-अलग होनेपर भी प्रकृतिमें ही हैं। तात्पर्य है कि खाने-पीने, सोने-जागने आदिसे लेकर जप, ध्यान, समाधितक सम्पूर्ण लौकिक-पारमार्थिक क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं। प्रकृतिका सम्बन्ध किये बिना क्रिया सम्भव ही नहीं है। अतः साधकको चाहिये कि वह पारमार्थिक क्रियाओंका त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उनको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये न माने। क्रिया चाहे लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक हो, उसका महत्त्व वास्तवमें जड़ताका ही महत्त्व है। शास्त्रविहित होनेके कारण पारमार्थिक क्रियाओंका अन्तःकरणमें जो विशेष महत्त्व रहता है, वह भी जड़ताका ही महत्त्व होनेसे साधकके लिये बाधक है†। पारमार्थिक क्रियाओंका उद्देश्य परमात्मा रहनेसे वे कल्याणकारक हो जाती हैं। ज्यों-ज्यों क्रियाकी गौणता और भगवत्सम्बन्धकी मुख्यता होती है, त्यों-त्यों अधिक लाभ होता है। क्रियाकी मुख्यता होनेपर वर्षोंतक साधन करनेपर भी लाभ नहीं होता। अतः क्रियाका महत्त्व न होकर भगवान्में प्रियता होनी चाहिये। प्रियता ही भजन है, क्रिया नहीं।

जिसकी बुद्धि विवेकरहित है अर्थात् जिसने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है, वह दुर्मति है। बोधमें विवेक कारण है, बुद्धि नहीं। बुद्धि विवेकसे शुद्ध होती है। बुद्धिकी शुद्धिमें शुभ कर्म भी कुछ सहायक होते हैं, पर विवेक-विचारसे बुद्धिकी जैसी शुद्धि होती है, वैसी शुभ कर्मोंसे नहीं होती। विवेकको महत्त्व न देना जितना दोषी है, उतने मल-विक्षेप-आवरण दोषी नहीं हैं। विवेक अनादि और नित्य है। इसलिये मल-विक्षेप-आवरणके रहते हुए भी विवेक जाग्रत् हो सकता है। पापसे विवेक नष्ट नहीं होता, प्रत्युत विवेक जाग्रत् नहीं होता। विवेकको महत्त्व न देनेमें कारण है—क्रिया और पदार्थका महत्त्व। क्रिया और पदार्थको महत्त्व देनेवाला ही 'दुर्मति' है।

~~~

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥

यस्य =जिसका
अहङ्कृतः, भावः=अहंकृतभाव ('मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव)
न =नहीं है (और)
यस्य =जिसकी

---

* स्वरूप (आत्मा) गुणोंसे सर्वथा रहित है—**'निर्गुणत्वात्'** (गीता १३। ३१)। गुण प्रकाश्य है, स्वरूप प्रकाशक है। गुण परिवर्तनशील हैं, स्वरूप अपरिवर्तनशील है। गुण अनित्य हैं, स्वरूप नित्य है। स्वरूप निर्गुण होते हुए भी जब यह गुणोंका संग कर लेता है, तब जन्म-मरणमें पड़ जाता है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)।

†भगवान्के लिये की गयी उपासनामें भगवान्की कृपा प्रधान होती है; अतः इसमें साधकका कर्तृत्व नहीं है। क्रिया, कर्म, उपासना और विवेक—चारों अलग-अलग हैं। **'क्रिया'** किसीके भी साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ती। 'कर्म' अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति (फल) के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। **'उपासना'** भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़ती है। **'विवेक'** जड़-चेतनका सम्बन्ध-विच्छेद करता है।
~~~

बुद्धिः	= बुद्धि	**लोकान्**	= सम्पूर्ण प्राणियोंको	**हन्ति**	= मारता है
न, लिप्यते	= लिप्त नहीं होती,	**हत्वा**	= मारकर		(और)
सः	= वह (युद्धमें)	**अपि**	= भी	**न**	= न
इमान्	= इन	**न**	= न	**निबध्यते**	= बँधता है।

विशेष भाव—अहंकृतभाव नहीं होनेका तात्पर्य है—अहंतारहित होना, और बुद्धि लिप्त नहीं होनेका तात्पर्य है—कामना, ममता और स्वार्थभावसे रहित होना।

अर्जुनने कहा था कि इन आततायियोंको मारनेसे हमारेको पाप लगेगा—**'पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः'** (गीता १। ३६) और गुरुजनोंको मारनेसे पाप लगेगा—**'गुरूनहत्वा हि महानुभावान्.....'** (गीता २। ५)। अतः यहाँ भगवान् कहते हैं कि इनको मारनेसे पाप लगनेकी तो बात ही क्या है, सम्पूर्ण प्राणियोंको मारनेसे भी पाप नहीं लगेगा, क्योंकि पाप लगनेमें हेतु अहंता और बुद्धिकी लिप्तता है। बुद्धि कामना, ममता और स्वार्थभावसे लिप्त होती है। गङ्गाजीमें कोई डूबकर मर जाता है तो गङ्गाजीको पाप नहीं लगता और कोई उसका जल पीता है, स्नान करता है, खेती करता है तो उससे गङ्गाजीको पुण्य नहीं लगता है। वर्षासे कई जीव मर जाते हैं और कइयोंको जीवन मिल जाता है, पर वर्षाको पाप-पुण्य नहीं लगते। कारण कि गङ्गाजीमें और वर्षामें अहंकृतभाव और बुद्धिका लेप नहीं है। अगर डॉक्टरमें कामना, ममता और स्वार्थबुद्धि न हो तो आपरेशनमें अंग काटनेपर भी उसको पाप नहीं लगता। अगर उसमें अहंकृतभाव भी न हो तो फिर पाप लगनेकी बात ही क्या है!

ज्ञानयोगसे 'अहंकृतभाव' का नाश होता है और कर्मयोगसे 'बुद्धिकी लिप्तता' नष्ट होती है। दोनोंमेंसे किसी एकका नाश होनेपर दूसरा भी नष्ट हो जाता है। अहंकृतभावके कारण ही जीवमें भोग और मोक्षकी इच्छा पैदा होती है। अहंकृतभाव मिटनेसे भोगेच्छा भी मिट जाती है—**'बुद्धिर्यस्य न लिप्यते'**। भोगेच्छा मिटनेपर मोक्षकी इच्छा स्वतः पूरी हो जाती है; क्योंकि मोक्ष स्वतःसिद्ध है।

~~~

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥ १८॥

ज्ञानम्	= ज्ञान,	**कर्मचोदना**	= कर्मप्रेरणा होती है	**कर्ता**	= कर्ता—
ज्ञेयम्	= ज्ञेय (और)		(तथा)	**इति**	= इन
परिज्ञाता	= परिज्ञाता	**करणम्**	= करण,	**त्रिविधः**	= तीनोंसे
त्रिविधा	= इन तीनोंसे	**कर्म**	= कर्म (और)	**कर्मसङ्ग्रहः**	= कर्मसंग्रह होता है।

विशेष भाव—अर्जुनने ज्ञानयोग और कर्मयोगका तत्त्व जाननेकी इच्छा प्रकट की थी (१८। १), इसलिये भगवान्ने बारहवें श्लोकतक कर्मयोगका वर्णन किया। फिर भगवान्ने ज्ञानयोगकी दृष्टिसे कर्मोंका विवेचन करते हुए पहले कर्मोंकी सिद्धिके लिये पाँच हेतु बताये (१८। १३—१५)। उसी बातको अब प्रकारान्तरसे कर्मप्रेरणा और कर्मसंग्रहके रूपमें वर्णन करते हैं।

जब मनुष्यके भीतर अहंकार और लिप्तता रहती है, तब ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटीसे 'कर्मप्रेरणा' अर्थात् कर्म करनेमें प्रवृत्ति होती है कि मैं अमुक कार्य करूँगा तो मेरेको अमुक फल मिलेगा। कर्मप्रेरणा होनेसे 'कर्मसंग्रह' अर्थात् पाप और पुण्यका संग्रह होता है। वे पाप और पुण्य-कर्म कैसे होते हैं—यह आगे बीसवें श्लोकसे विस्तारपूर्वक बतायेंगे।

~~~

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥

गुणसङ्ख्याने	= गुणोंका विवेचन करनेवाले शास्त्रमें	**कर्म**	= कर्म	**प्रोच्यते**	= कहे जाते हैं,
		च	= तथा	**तानि**	= उनको
गुणभेदतः	= गुणोंके भेदसे	**कर्ता**	= कर्ता	**अपि**	= भी (तुम)
ज्ञानम्	= ज्ञान	**त्रिधा**	= तीन-तीन प्रकारसे	**यथावत्**	= यथार्थरूपसे
च	= और	**एव**	= ही	**शृणु**	= सुनो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

येन	= जिस ज्ञानके द्वारा (साधक)	**एकम्**	= एक	**ज्ञानम्**	= ज्ञानको (तुम)
		अव्ययम्	= अविनाशी		
विभक्तेषु, सर्वभूतेषु	= सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें	**भावम्**	= भाव (सत्ता) को	**सात्त्विकम्**	= सात्त्विक
		ईक्षते	= देखता है,		
अविभक्तम्	= विभागरहित	**तत्**	= उस	**विद्धि**	= समझो।

विशेष भाव—जैसे साधारण मनुष्य शरीरमें अपनेको व्यापक मानता है, ऐसे ही साधक संसारमें परमात्माको व्यापक मानता है। जैसे शरीर और संसार एक हैं, ऐसे ही स्वयं और परमात्मा एक हैं।

साधककी दृष्टिमें प्राणियोंकी भी सत्ता रहनेके कारण यह 'सात्त्विक ज्ञान' (विवेक) कहा गया है। अगर उसकी दृष्टिमें प्राणियोंकी सत्ता न रहे, केवल अविनाशी सत्ता ही रहे तो यह गुणातीत 'तत्त्वज्ञान' (ब्रह्मकी प्राप्ति) ही है। वह अविनाशी सत्ता सब जगह समानरूपसे विद्यमान है। उस सत्ताके साथ हमारी स्वाभाविक एकता है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

तु	= परन्तु	**भूतेषु**	= प्राणियोंमें	**तत्**	= उस
यत्	= जो	**पृथक्त्वेन**	= अलग-अलग	**ज्ञानम्**	= ज्ञानको (तुम)
ज्ञानम्	= ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य	**नानाभावान्**	= अनेक भावोंको		
		पृथग्विधान्	= अलग-अलग रूपसे	**राजसम्**	= राजस
सर्वेषु	= सम्पूर्ण	**वेत्ति**	= जानता है,	**विद्धि**	= समझो

विशेष भाव—क्रिया और पदार्थ—दोनोंको सत्ता देकर उनके साथ रागपूर्वक सम्बन्ध जोड़नेके कारण सब अलग-अलग दीखते हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

तु	= किन्तु		मनुष्य	**कृत्स्नवत्**	= सम्पूर्णकी तरह
यत्	= जो (ज्ञान) अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा	**एकस्मिन्**	= एक	**सक्तम्**	= आसक्त रहता है
		कार्ये	= कार्यरूप शरीरमें ही	**च**	= तथा (जो)

अहैतुकम्	= युक्तिरहित,	**अल्पम्**	= तुच्छ है,	**तामसम्**	= तामस
अतत्त्वार्थवत्	= वास्तविक ज्ञानसे रहित (और)	**तत्**	= वह	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

विशेष भाव—तामस ज्ञानमें आसुरी सम्पत्ति विशेष है। इस श्लोकमें 'ज्ञान' शब्द न देनेका तात्पर्य है कि वास्तवमें यह ज्ञान नहीं है, प्रत्युत अज्ञान ही है। यह तामस मनुष्योंकी बुद्धि है, जिसको 'पशुबुद्धि' कहा गया है—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥

(श्रीमद्भा० १२। ५। २)

(श्रीशुकदेवजी बोले—) 'हे राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा। जैसे शरीर पहले नहीं था, पीछे पैदा हुआ और फिर मर जायगा, ऐसे तुम पहले नहीं थे, पीछे पैदा हुए और फिर मर जाओगे— यह बात नहीं है।'

~~~

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

यत्	= जो		रहित हो (तथा)	**कृतम्**	= किया हुआ हो,
कर्म	= कर्म			**तत्**	= वह
नियतम्	= शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ (और)	**अफलप्रेप्सुना**	= फलेच्छारहित मनुष्यके द्वारा	**सात्त्विकम्**	= सात्त्विक
सङ्गरहितम्	= कर्तृत्वाभिमानसे	**अरागद्वेषतः**	= बिना राग-द्वेषके	**उच्यते**	= कहा जाता है।

~~~

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

तु	= परन्तु	**साहङ्कारेण**	= अहंकारसे	**तत्**	= वह
यत्	= जो	**पुनः**	= और		
कर्म	= कर्म	**बहुलायासम्**	= परिश्रमपूर्वक	**राजसम्**	= राजस
कामेप्सुना	= भोगोंकी इच्छासे	**क्रियते**	= किया जाता है,		
वा	= अथवा			**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

विशेष भाव—राजस मनुष्य अपनी आवश्यकताओंको अधिक बढ़ा लेता है, जिससे प्रत्येक काममें उसको अधिक वस्तुओंकी जरूरत पड़ती है। अधिक वस्तुओंको जुटानेमें परिश्रम भी अधिक होता है। राजस मनुष्य कर्मोंका विस्तार अधिक करता है, इसलिये भी उसको परिश्रम अधिक होता है। शरीरमें राग रहनेके कारण राजस मनुष्य शरीरका आराम चाहता है, जिससे उसको थोड़े काममें भी अधिक परिश्रम मालूम देता है।

~~~

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

यत्	= जो	**अनुबन्धम्**	= परिणाम,	**हिंसाम्**	= हिंसा
कर्म	= कर्म	**क्षयम्**	= हानि,	**च**	= और
~~~

पौरुषम्	=सामर्थ्यको	**मोहात्**	=मोहपूर्वक	**तत्**	=वह
अनवेक्ष्य	=न देखकर	**आरभ्यते**	=आरम्भ किया जाता है,	**तामसम्**	=तामस
				उच्यते	=कहा जाता है।

विशेष भाव—तामस मनुष्य अपनी शक्ति, परिणाम आदिका विचार न करके मूढ़तासे काम करता है*। वह स्वाभाविक ही ऐसे काम करता है, जिनसे दूसरोंको बाधा पहुँचे; जैसे-रास्तेमें खड़े होकर बात करने लग जाना, रास्तेमें साइकिल खड़ी कर देना आदि। दूसरोंको लगनेवाली बाधाकी तरफ उसका ध्यान ही नहीं जाता।

सात्त्विक स्वभाव स्वतः उत्थानकी तरफ जाता है, राजस स्वभावमें उन्नति रुक जाती है और तामस स्वभाव स्वतः पतनकी तरफ जाता है।

~~~~

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

कर्ता	=(जो) कर्ता	**धृत्युत्साहसमन्वितः**=	धैर्य और उत्साहयुक्त (तथा)	**निर्विकारः**	=निर्विकार है, (वह)
मुक्तसङ्गः	=रागरहित,				
अनहंवादी	=कर्तृत्वाभिमानसे रहित,	**सिद्ध्यसिद्ध्योः**=	सिद्धि और असिद्धिमें	**सात्त्विकः**	=सात्त्विक
				उच्यते	=कहा जाता है।

विशेष भाव—सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार, सम रहनेकी बात गीतामें तीन बार आयी है—'**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**' (२। ४८), '**समः सिद्धावसिद्धौ च**' (४। २२) और यहाँ '**सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः**'। तात्पर्य है कि सिद्धि-असिद्धि हाथकी बात नहीं है, पर उसमें निर्विकार रहना हाथकी बात है। जो हाथकी बात है, उसको ठीक करना है।

'**अनहंवादी**'—सात्त्विक मनुष्य 'जैसा मैं कर सकता हूँ, वैसा दूसरा नहीं कर सकता'—इस तरह न तो बाहरसे बोलता है और न भीतरसे बोलता है। अपनेमें विशेषताका अनुभव करना ही भीतरसे बोलना है।

~~~~

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

कर्ता	=(जो) कर्ता	**लुब्धः**	=लोभी,	**हर्षशोकान्वितः**=	हर्ष-शोकसे युक्त है, (वह)
रागी	=रागी	**हिंसात्मकः**	=हिंसाके स्वभाव-वाला,		
कर्मफलप्रेप्सुः=	कर्मफलकी इच्छावाला,	**अशुचिः**	=अशुद्ध (और)	**राजसः**	=राजस
				परिकीर्तितः	=कहा गया है।

विशेष भाव—'हिंसात्मकः'—पहले तामस कर्ममें भी हिंसा बतायी गयी है (१८। २५); क्योंकि रजोगुण और तमोगुण—दोनों एक-दूसरेके नजदीक पड़ते हैं, पर सत्त्वगुण दोनोंसे दूर पड़ता है। रजोगुण रागात्मक होता है और तमोगुण मोहात्मक। रजोगुणमें तो होश और सावधानी रहती है, पर तमोगुणमें बेहोशी और असावधानी रहती है। राग, स्वार्थबुद्धि होनेसे जितनी हिंसा होती है, उतनी मोह होनेसे नहीं होती। इसलिये रजोगुणमें अधिक हिंसा होती है। राग, स्वार्थबुद्धिके कारण राजस मनुष्य 'हिंसात्मक' हो जाता है। उसकी हिंसामें तल्लीनता हो जाती है।

~~~~

* बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय। काम बिगारै आपनो, जग में होत हँसाय॥
जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न पावै। खान पान सनमान, राग-रँग मन नहिं भावै॥
कह गिरधर कविराय करमगति टरत न टारे। खटकत है जिय माहिं कियौ जो बिना बिचारे॥
~~~~

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८॥

कर्ता	=(जो) कर्ता	**अनैष्कृतिकः**	= उपकारीका अपकार करनेवाला,	**दीर्घसूत्री**	=दीर्घसूत्री है, (वह)
अयुक्तः	=असावधान,	**अलसः**	=आलसी,	**तामसः**	=तामस
प्राकृतः	=अशिक्षित,	**विषादी**	=विषादी	**उच्यते**	=कहा जाता है।
स्तब्धः	=ऐंठ-अकड़वाला,	**च**	=और		
शठः	=जिद्दी,				

विशेष भाव—'विषादी' पद रजोगुणमें आना चाहिये, पर यहाँ तमोगुणमें आया है। तामस वृत्तिका विवेकसे विरोध है, इसलिये तामस मनुष्यमें विषाद अधिक होता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ २९॥

धनञ्जय	=हे धनञ्जय! (अब तू)	**धृतेः**	=धृतिके	**शृणु**	=सुन,
गुणतः	=गुणोंके अनुसार	**एव**	=भी	**अशेषेण**	=(जो कि मेरे द्वारा) पूर्णरूपसे
बुद्धेः	=बुद्धि	**त्रिविधम्**	=तीन प्रकारके	**प्रोच्यमानम्**	=कहे जा रहे हैं।
च	=और	**भेदम्**	=भेद		
		पृथक्त्वेन	=अलग-अलगरूपसे		

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**कार्याकार्ये**	=कर्तव्य और अकर्तव्यको,	**च**	=और
या	=जो (बुद्धि)	**भयाभये**	=भय और अभयको	**मोक्षम्**	=मोक्षको
प्रवृत्तिम्	=प्रवृत्ति	**च**	=तथा	**वेत्ति**	=जानती है,
च	=और	**बन्धम्**	=बन्धन	**सा**	=वह
निवृत्तिम्	=निवृत्तिको,			**बुद्धिः**	=बुद्धि
				सात्त्विकी	=सात्त्विकी है।

विशेष भाव—प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको—दोनोंको जाननेका तात्पर्य संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही है। अगर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद न हो तो वह जानना वास्तवमें जानना नहीं है, प्रत्युत सीखना है।

गीताका 'सात्त्विक' गुणातीत करनेवाला, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला है। इसलिये इसमें बन्धन और मोक्षतकका विचार होता है—**'बन्धं मोक्षं च या वेत्ति'**। सात्त्विकी बुद्धिमें वह विवेक होता है, जो तत्त्वज्ञानमें परिणत होता है। विवेकवती बुद्धि 'ब्रह्मलोककी प्राप्तितक सब बन्धन है'—ऐसा जानती है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**च**	=तथा	**प्रजानाति**	=जानता,
यया	=(मनुष्य) जिसके द्वारा	**कार्यम्**	=कर्तव्य		
		च	=और	**सा**	=वह
धर्मम्	=धर्म	**अकार्यम्**	=अकर्तव्यको	**बुद्धिः**	=बुद्धि
च	=और	**एव**	=भी		
अधर्मम्	=अधर्मको	**अयथावत्**	=ठीक तरहसे नहीं	**राजसी**	=राजसी है।

विशेष भाव—जो धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक तरहसे नहीं जानता, वह बन्धन और मोक्षको कैसे जानेगा? नहीं जान सकता। बुद्धि रागात्मिका होनेसे वह इनको ठीक तरहसे नहीं जानता; क्योंकि रागकी मुख्यता होनेसे वह विवेकको महत्त्व नहीं दे पाता। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका रंग चढ़नेसे उसका विवेक लुप्त हो जाता है।

~~~

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**अधर्मम्**	=अधर्मको	**सर्वार्थान्**	=सम्पूर्ण चीजोंको
तमसा	=तमोगुणसे	**धर्मम्**	=धर्म—	**विपरीतान्**	=उलटा (मान लेती है),
आवृता	=घिरी हुई	**इति**	=ऐसा		
या	=जो	**मन्यते**	=मान लेती है	**सा**	=वह
बुद्धिः	=बुद्धि	**च**	=और	**तामसी**	=तामसी है।

विशेष भाव—जिनकी बुद्धि तामसी होती है, उनको व्यवहारमें और परमार्थमें सब जगह उलटा ही दीखता है। इसका उदाहरण वर्तमान समयमें स्पष्ट दीखनेमें आ रहा है। जैसे—पशुओंके विनाशको 'मांसका उत्पादन' कहा जाता है! गर्भपातरूपी महापापको और मनुष्यकी उत्पादक शक्तिके विनाशको 'परिवार कल्याण' कहा जाता है! स्त्रियोंकी उच्छृङ्खलताको, मर्यादाके नाशको 'नारी-मुक्ति' कहा जाता है! पहले स्त्री घरकी स्वामिनी (गृहलक्ष्मी) होती थी, अब घरसे बाहर अनेक पुरुषोंकी दासता (नौकरी) करनेको 'नारीकी स्वाधीनता' कहा जाता है! इस प्रकार पराधीनताको स्वाधीनताका लक्षण माना जाता है। नैतिक पतनको उन्नतिकी संज्ञा दी जाती है। पशुताको सभ्यताका चिह्न माना जाता है। धार्मिकताको साम्प्रदायिकता और धर्मविरुद्धको धर्म-निरपेक्ष कहा जाता है। जब विनाशकाल समीप आता है, तभी ऐसी विपरीत, तामसी बुद्धि पैदा होती है—'**विनाशकाले विपरीतबुद्धिः**', '**बुद्धिनाशात्प्रणश्यति**' (गीता २। ६३)।

~~~

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः**	= मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको		संयम रखता है,
योगेन	=समतासे युक्त			**सा**	=वह
यया	=जिस			**धृतिः**	=धृति
अव्यभिचारिण्या	=अव्यभिचारिणी	**धारयते**	=धारण करता है अर्थात्		
धृत्या	=धृतिके द्वारा (मनुष्य)			**सात्त्विकी**	=सात्त्विकी है।

विशेष भाव—जीव परमात्माका अंश है, इसलिये परमात्माके सिवाय कहीं भी जाना 'व्यभिचार' है और केवल परमात्माकी तरफ चलना 'अव्यभिचार' है। केवल परमात्माकी तरफ चलनेवाली धृति 'अव्यभिचारिणी धृति' है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

तु	= परन्तु	**यया**	= जिस		आसक्तिपूर्वक
पार्थ	= हे पृथानन्दन	**धृत्या**	= धृतिके द्वारा	**धारयते**	= धारण करता है,
अर्जुन	= अर्जुन!	**धर्मकामार्थान्**	= धर्म, काम (भोग) और धनको	**सा**	= वह
फलाकाङ्क्षी	= फलकी इच्छावाला मनुष्य			**धृतिः**	= धृति
		प्रसङ्गेन	= अत्यन्त	**राजसी**	= राजसी है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ३५॥

पार्थ	= हे पार्थ!	**भयम्**	= भय,	**न**	= नहीं
दुर्मेधाः	= दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य	**शोकम्**	= चिन्ता,	**विमुञ्चति**	= छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है,
		विषादम्	= दुःख		
यया	= जिस धृतिके द्वारा	**च**	= और	**सा**	= वह
		मदम्	= घमण्डको	**धृतिः**	= धृति
स्वप्नम्	= निद्रा,	**एव**	= भी	**तामसी**	= तामसी है।

विशेष भाव—निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख, घमण्ड आदि दोष तो रहेंगे ही, दूर हो ही नहीं सकते—ऐसा निश्चय करनेवाले मनुष्य 'दुर्मेधा' हैं। ऐसे मनुष्योंका दोषोंको छोड़नेकी तरफ खयाल ही नहीं जाता, छोड़नेकी हिम्मत ही नहीं होती, प्रत्युत वे इनको स्वाभाविक ही धारण किये रहते हैं।

अधिक निद्रा ही बाधक होती है। आवश्यक, यथायोग्य निद्रा बाधक नहीं होती (गीता ६। १६-१७)।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥

भरतर्षभ	= हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**तु**	= भी (तुम)	**रमते**	= रमण होता है
		मे	= मुझसे	**च**	= और (जिससे)
इदानीम्	= अब	**शृणु**	= सुनो।	**दुःखान्तम्**	= दुःखोंका अन्त
त्रिविधम्	= तीन प्रकारके	**यत्र**	= जिसमें	**निगच्छति**	= हो जाता है,
सुखम्	= सुखको	**अभ्यासात्**	= अभ्याससे	**तत्**	= ऐसा वह

आत्मबुद्धिप्रसादजम्=परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा होनेवाला
यत् =जो
सुखम् =सुख (सांसारिक आसक्तिके कारण)
अग्रे =आरम्भमें
विषम् =विषकी
इव =तरह (और)
परिणामे =परिणाममें
अमृतोपमम् =अमृतकी तरह होता है,
तत् =वह (सुख)
सात्त्विकम् =सात्त्विक
प्रोक्तम् =कहा गया है।

विशेष भाव—चौदहवें अध्यायमें तो सात्त्विक सुखको बाँधनेवाला बताया था—**'सुखसङ्गेन बध्नाति'** (१४। ६), पर यहाँ उसको दु:खोंका नाश करनेवाला बताते हैं—**'दु:खान्तं च निगच्छति'**। इसका तात्पर्य यह है कि सात्त्विक सुखमें रमण (भोग) करनेसे वह बाँधनेवाला हो जाता है अर्थात् गुणातीत नहीं होने देता। अगर रमण न करे तो वह सात्त्विक सुख दु:खोंका नाश करनेवाला हो जाता है। सुख भोगनेसे दु:खका नाश नहीं होता। भोगका त्याग करनेसे ही योग होता है। इसलिये सात्त्विक सुखसे भी असंगता होनी चाहिये। संग होनेसे बन्धनकारक रजोगुण आ जाता है। सत्त्वगुणमें रजोगुण आनेसे पतन होता है।

विवेकको महत्त्व न देनेके कारण सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह दीखता है। राजस मनुष्य विवेकको आदर नहीं देता। अत: सात्त्विक सुखका आरम्भमें विषकी तरह दीखना राजसपना है। तात्पर्य है कि सात्त्विक सुख दु:खदायी नहीं होता, प्रत्युत मनुष्यकी बुद्धिमें राजसपना होनेसे सात्त्विक सुख भी उसको विषकी तरह दु:खदायी दीखता है। उसका उद्देश्य तो सात्त्विक सुखका है, पर भीतर राजस भाव पड़ा है।

~~~

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

यत् =जो
सुखम् =सुख
विषयेन्द्रियसंयोगात्=इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे (होता है),
तत् =वह
अग्रे =आरम्भमें
अमृतोपमम् =अमृतकी तरह (और)
परिणामे =परिणाममें
विषम् =विषकी
इव =तरह प्रतीत होता है; (अत:)
तत् =वह (सुख)
राजसम् =राजस
स्मृतम् =कहा गया है।

विशेष भाव—सांसारिक भोगोंका सुख आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह होता है। अविवेकी मनुष्य आरम्भको ही महत्त्व देता है। आरम्भ तो सदा रहता नहीं, पर उसकी कामना सदा रहती है, जो सम्पूर्ण दु:खोंका कारण है। परन्तु विवेकी मनुष्य आरम्भको न देखकर परिणामको देखता है, इसलिये वह भोगोंमें आसक्त नहीं होता—**'न तेषु रमते बुध:'** (गीता ५। २२)। परिणामको देखनेकी योग्यता मनुष्यमें ही है। परिणामको न देखना पशुता है।

वास्तवमें आरम्भ (संयोग) मुख्य नहीं है, प्रत्युत अन्त (वियोग) ही मुख्य है। मनुष्य आरम्भकालको चाहता है, पर वह रहता नहीं; क्योंकि प्रत्येक संयोगका वियोग होता है—यह नियम है। आरम्भ अनित्य होता है, पर अन्त नित्य होता है। अनित्यकी इच्छासे ही दु:खोंकी उत्पत्ति होती है। संसारमात्रका वियोग ही नित्य है। परन्तु राजसी वृत्तिके कारण संयोग अच्छा मालूम देता है। अगर मनुष्य आरम्भकालके सुखको महत्त्व न दे तो दु:ख कभी आयेगा ही नहीं। आरम्भको देखनेसे भोग होता है और परिणामको देखनेसे योग होता है।

संसारके संयोगमें जो सुख प्रतीत होता है, उसमें दु:ख भी मिला हुआ रहता है। परन्तु संसारके वियोगसे सुख-दु:खसे अतीत अखण्ड आनन्द प्राप्त होता है।

~~~

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

निद्रालस्यप्रमादोत्थम्	= निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला	**अग्रे**	= आरम्भमें	**मोहनम्**	= मोहित करनेवाला है,
		च	= और	**तत्**	= वह (सुख)
		अनुबन्धे	= परिणाममें		
यत्	= जो	**च**	= भी	**तामसम्**	= तामस
सुखम्	= सुख	**आत्मनः**	= अपनेको	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

विशेष भाव—तामस मनुष्यमें मोह रहता है—'**तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्**' (गीता १४। ८)। मोह विवेकमें बाधक होता है। तामसी वृत्ति विवेक जाग्रत् नहीं होने देती। इसलिये तामस मनुष्यका विवेक मोहके कारण लुप्त हो जाता है, जिससे वह आरम्भ या अन्तको देखता ही नहीं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

पृथिव्याम्	= पृथ्वीमें		और कहीं भी	**प्रकृतिजैः**	= प्रकृतिसे उत्पन्न
वा	= या	**तत्**	= वह (ऐसी कोई)	**एभिः**	= इन
दिवि	= स्वर्गमें	**सत्त्वम्**	= वस्तु	**त्रिभिः**	= तीनों
वा	= अथवा	**न**	= नहीं	**गुणैः**	= गुणोंसे
देवेषु	= देवताओंमें	**अस्ति**	= है,	**मुक्तम्**	= रहित
पुनः	= तथा इनके सिवाय	**यत्**	= जो	**स्यात्**	= हो।

विशेष भाव—दसवें अध्यायमें भगवान्ने भक्ति-(विश्वास) की दृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तुओंको अपनेसे उत्पन्न होनेवाली बताया था—'**न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्**' (१०। ३९)। यहाँ भगवान् ज्ञान-(विवेक) की दृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तुओंको प्रकृतिजन्य गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली बताते हैं। कारण कि विवेकीकी दृष्टिमें सत् और असत् दोनों रहते हैं, पर भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान् ही रहते हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। विवेकमार्गमें असत्का, गुणोंका त्याग मुख्य है, पर भक्तिमार्गमें भगवान्का सम्बन्ध मुख्य है।

'संसारकी कोई भी वस्तु तीनों गुणोंसे रहित नहीं है'—यह बात अज्ञानीकी दृष्टिमें है, तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें नहीं। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टि सत्तामात्र स्वरूपकी तरफ रहती है, जो स्वत:-स्वाभाविक निर्गुण है (गीता १३। ३१)।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

परन्तप	= हे परंतप!	**च**	= और	**स्वभावप्रभवैः**	= स्वभावसे उत्पन्न हुए
ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्	= ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य	**शूद्राणाम्**	= शूद्रोंके	**गुणैः**	= तीनों गुणोंके द्वारा
		कर्माणि	= कर्म	**प्रविभक्तानि**	= विभक्त किये गये हैं।

विशेष भाव—चौथे अध्यायमें भगवान्ने कहा है कि चारों वर्णोंकी रचना मैंने गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक की है—'**गुणकर्मविभागशः**' (४। १३) और यहाँ कहते हैं कि चारों वर्णोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न हुए तीनों गुणोंके द्वारा विभक्त किये गये हैं—'**स्वभावप्रभवैर्गुणैः**'। चौथे अध्यायमें तो चारों वर्णोंके पैदा होनेकी बात है

और यहाँ चारों वर्णोंके कर्मोंकी बात है। तात्पर्य है, चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने बताया कि चारों वर्णोंका जन्म पूर्वजन्मके गुणकर्मोंके अनुसार हुआ है और यहाँ बताते हैं कि जन्मके बाद चारों वर्णोंके अमुक-अमुक कर्म होने चाहिये, जिनके अनुसार उनकी आगे गति होगी।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

शमः = मनका निग्रह करना; **दमः** = इन्द्रियोंको वशमें करना; **तपः** = धर्मपालनके लिये कष्ट सहना; **शौचम्** = बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना; **क्षान्तिः** = दूसरोंके अपराधको क्षमा करना; **आर्जवम्** = शरीर, मन आदिमें सरलता रखना; **ज्ञानम्** = वेद, शास्त्र आदिका ज्ञान होना; **विज्ञानम्** = यज्ञविधिको अनुभवमें लाना **च** = और **आस्तिक्यम्** = परमात्मा, वेद आदिमें आस्तिकभाव रखना— **एव** = (ये सब-के-सब) ही **ब्रह्मकर्म, स्वभावजम्** = ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।

विशेष भाव—वर्ण-परम्परा ठीक हो तो ये गुण ब्राह्मणमें स्वाभाविक होते हैं। परन्तु वर्णसंकरता आनेपर ये गुण स्वाभाविक नहीं होते, इनमें कमी आ जाती है।

पूर्वश्लोकमें **'स्वभावप्रभवैर्गुणैः'** कहा, इसलिये यहाँ स्वभावज कर्म बताते हैं। स्वभाव बननेमें पहले जन्म मुख्य है, फिर जन्मके बाद संग मुख्य है। संग, स्वाध्याय, अभ्यास आदिके कारण स्वभाव बदल जाता है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

शौर्यम् = शूरवीरता, **तेजः** = तेज, **धृतिः** = धैर्य **दाक्ष्यम्** = प्रजाके संचालन आदिकी विशेष चतुरता **च** = तथा **युद्धे** = युद्धमें **अपि** = कभी **अपलायनम्** = पीठ न दिखाना, **दानम्** = दान करना **च** = और **ईश्वरभावः** = शासन करनेका भाव (—ये सब-के-सब) **क्षात्रम्** = क्षत्रियके **स्वभावजम्** = स्वाभाविक **कर्म** = कर्म हैं।

विशेष भाव—क्षत्रिय (राजपूत) बड़े शूरवीर और तेजस्वी होते हैं। परन्तु ईर्ष्या-दोष होनेके कारण जिस राजाका राज्य हुआ, उसने अपने अधीन रहनेवाले राजपूतोंका उत्साह कम करनेकी चेष्टा की, उनकी उन्नति नहीं होने दी, जिससे कि वे प्रबल होकर राज्य न छीन लें। इस प्रकार ईर्ष्याके कारण आपसी फूट होनेसे तथा उत्साहमें कमी होनेसे ही विधर्मीलोग भारतपर अपना अधिकार करनेमें समर्थ हो सके।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम्	= खेती करना, गायोंकी रक्षा करना और व्यापार करना (—ये सब-के-सब)	**वैश्यकर्म, स्वभावजम्**	= वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं (तथा)	**शूद्रस्य**	= शूद्रका
		परिचर्यात्मकम्	= चारों वर्णोंकी सेवा करना	**अपि**	= भी
				स्वभावजम्	= स्वाभाविक
				कर्म	= कर्म है।

~~~

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

स्वे, स्वे	= अपने-अपने		(परमात्मा) को	**सिद्धिम्**	= सिद्धिको
कर्मणि	= कर्ममें	**लभते**	= प्राप्त कर लेता है।	**विन्दति**	= प्राप्त होता है,
अभिरतः	= प्रीतिपूर्वक लगा हुआ	**स्वकर्मनिरतः**	= अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य	**तत्**	= उस प्रकारको (तू मुझसे)
नरः	= मनुष्य				
संसिद्धिम्	= सम्यक् सिद्धि	**यथा**	= जिस प्रकार	**शृणु**	= सुन।

विशेष भाव—अपने वर्णके सिवाय जिसने जो-जो कर्म स्वीकार कर लिये हैं, वे सब भी '**स्वे स्वे कर्मणि**' के अन्तर्गत लेने चाहिये। जैसे, मनुष्य अपनेको वकील, नौकर, अध्यापक अथवा चिकित्सक आदि मानता है तो उसके कर्तव्यका प्रेमपूर्वक, आदरपूर्वक निःस्वार्थभावसे ठीक-ठीक पालन करना भी उसके लिये 'स्वकर्म' है।

मनुष्य स्वार्थबुद्धि, पक्षपात, कामना आदिको लेकर कर्म करता है तो वह 'आसक्ति' होती है। वह प्रेमपूर्वक, निष्कामभावसे और लोकहितके लिये कर्म करता है तो वह 'अभिरति' होती है। भगवान्‌ने कर्मोंमें 'आसक्ति' का निषेध किया है—'**न कर्मस्वनुषज्जते**' (गीता ६। ४)। मनुष्य जाति आदिको लेकर न अपनेको ऊँचा समझे, न नीचा समझे, प्रत्युत घड़ीके पुर्जेकी तरह अपनी जगह ठीक कर्तव्यका पालन करे और दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार न करे तथा अपना अभिमान भी न करे, तब 'अभिरति' होगी।

वास्तवमें 'कर्म' की प्रधानता नहीं है, प्रत्युत 'भाव' की प्रधानता है। कर्ताका भाव शुद्ध होगा तो वह कल्याण करनेवाला हो जायगा, चाहे कर्ता किसी वर्णका हो। 'कर्म' में वर्णकी मुख्यता है और 'भाव' में दैवी अथवा आसुरी सम्पत्तिकी मुख्यता है। अतः दैवी-आसुरी सम्पत्ति किसी वर्णको लेकर नहीं होती, प्रत्युत सबमें हो सकती है। दैवी सम्पत्ति मोक्ष देनेवाली और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली है। इसलिये अगर ब्राह्मणमें भी अभिमान हो तो वह आसुरी सम्पत्तिवाला हो जायगा अर्थात् उसका पतन हो जायगा—

नीच नीच सब तर गये, राम भजन लवलीन।
जाति के अभिमान से, डूबे सभी कुलीन॥

~~~

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

यतः	= जिस परमात्मासे	**इदम्**	= यह	**अभ्यर्च्य**	= पूजन करके
भूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंकी	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण संसार	**मानवः**	= मनुष्यमात्र
प्रवृत्तिः	= प्रवृत्ति (उत्पत्ति) होती है (और)	**ततम्**	= व्याप्त है,	**सिद्धिम्**	= सिद्धिको
		तम्	= उस परमात्माका	**विन्दति**	= प्राप्त हो जाता है।
येन	= जिससे	**स्वकर्मणा**	= अपने कर्मके द्वारा		

विशेष भाव—यहाँ '**यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्**' पदोंमें आये '**प्रवृत्तिः**' पदका अर्थ '**उत्पत्ति**' लेना चाहिये; क्योंकि परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति तो होती है, पर क्रिया नहीं होती। क्रिया रजोगुणसे होती है—'**लोभः प्रवृत्तिरारम्भः**'० (गीता १४। १२)। पन्द्रहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें भी प्रवृत्तिः पद '**उत्पत्ति**' अर्थमें आया है—'**यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी**'।

यह संसार भगवान्का पहला अवतार है—'**आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य**' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। अतः यह संसार भगवान्की ही मूर्ति है, श्रीविग्रह है। जैसे मूर्तिमें हम भगवान्का पूजन करते हैं, पुष्प चढ़ाते हैं, चन्दन लगाते हैं तो हमारा भाव मूर्तिमें न होकर भगवान्में होता है अर्थात् हम मूर्तिकी पूजा न करके भगवान्की पूजा करते हैं, ऐसे ही हमें अपनी प्रत्येक क्रियासे संसाररूपमें भगवान्का पूजन करना है। श्रोता सुनकर वक्ताका पूजन करे, वक्ता सुनाकर श्रोताका पूजन करे—इस प्रकार सभी अपने-अपने कर्मोंके द्वारा एक-दूसरेका पूजन करें। दृष्टि भगवान्की तरफ ही हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णकी तरफ नहीं। भगवान् श्रीरामको ऋषि-मुनि प्रणाम करते हैं तो भगवान्के भावसे प्रणाम करते हैं, क्षत्रियके भावसे नहीं। पूजनमें खास बात है—सब कुछ भगवान्का और भगवान्के लिये ही है। जैसे गङ्गाजलसे गङ्गाका पूजन करते हैं, ऐसे ही भगवान्की वस्तुओंसे भगवान्का पूजन करना है। वास्तवमें सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्का ही पूजन हैं, हमें केवल अपनी भूल मिटानी है। भगवान्की ही वस्तु भगवान्के अर्पित करनेसे अपनी स्वार्थबुद्धि, भोगबुद्धि, फलेच्छा मिट जायगी तथा अपनेमें सामर्थ्य भी भगवान्का ही माननेसे कर्तृत्व भी मिट जायगा और भगवत्प्राप्तिका अनुभव हो जायगा।

वास्तवमें भगवद्भावसे संसारका पूजन मूर्तिपूजासे भी विशेष मूल्यवान् है। कारण कि मूर्तिका पूजन करनेसे मूर्ति प्रसन्न होती हुई नहीं दीखती, पर प्राणियोंकी सेवा करनेसे वे प्रत्यक्ष प्रसन्न (सुखी) होते हुए दीखते हैं।

अगर व्यक्तियोंको भगवान्का स्वरूप मानकर कर्मोंसे और पदार्थोंसे उनकी सेवा की जाय तो संसार लुप्त हो जायगा और एकमात्र भगवान् रह जायँगे अर्थात् 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो जायगा। जैसे रस्सीमें साँपका भ्रम मिटनेपर साँप तो लुप्त हो जाता है, पर रस्सी तो रहती ही है, ऐसे ही भगवान्में जगत्का भ्रम मिटनेपर जगत् जगत्‌रूपसे लुप्त हो जाता है और भगवद्‌रूपसे रहता है। कारण कि जगत्की तो मान्यता है, पर 'भगवान् हैं' यह वास्तविकता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १५)

'जब भक्तका सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव हो जाता है और उनमें मेरेको ही देखता है*, तब शीघ्र ही उसके चित्तसे ईर्ष्या, दोषदृष्टि, तिरस्कार आदि दोष अहंकारसहित दूर हो जाते हैं।'

गीतामें भगवान्ने कहा है—'**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**' (१०। २०) 'सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित आत्मा भी मैं ही हूँ'। अतः भगवद्भावसे किसी प्राणीकी सेवा, आदर-सत्कार करेंगे तो वह भगवान्की ही सेवा होगी। अगर किसी प्राणीका अनादर-तिरस्कार करेंगे तो वह भगवान्का ही अनादर-तिरस्कार होगा—'**कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः**०' (१७। ६)।

जैसे ज्ञानमार्गमें गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं ('**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**'), ऐसे ही भक्तिमार्गमें भगवान्की वस्तुओंसे भगवान्का ही पूजन हो रहा है। परन्तु दोनोंमें बड़ा अन्तर है। '**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' में जड़ताकी मुख्यता है, जिसका ज्ञानमार्गी त्याग करता है; परन्तु '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' में चिन्मयताकी मुख्यता है, जिसका भक्तिमार्गी ग्रहण करता है। इसलिये भक्तिमार्गमें जड़ता मिट जाती है, संसार संसाररूपसे छिप जाता है और भगवत्स्वरूपसे प्रकट हो जाता है; क्योंकि वास्तवमें भगवान् ही हैं। साधक अगर जगत्को जगत्‌रूपसे देखे तो उसकी 'सेवा'

---

* स्त्री-पुरुषोंमें भगवान्को देखनेके लिये इसलिये कहा है कि हम अधिकतर स्त्री-पुरुषोंमें ही गुण-दोष देखते हैं, जिससे उनमें भगवद्भाव नहीं होता। अतः स्त्री-पुरुषोंमें गुण-दोष न देखकर केवल भगवान्को देखनेसे सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें सुगमतासे भगवद्भाव हो जायगा।

करे और भगवद्रूपसे देखे तो उसका 'पूजन' करे। अपने लिये कुछ नहीं करे। मात्र कर्म अपने लिये करना बन्धन है, संसारके लिये करना सेवा है और भगवान्‌के लिये करना पूजन है।

~~~

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

स्वनुष्ठितात्	=अच्छी तरह अनुष्ठान किये हुए	**स्वधर्मः**	=अपना धर्म	**कर्म**	=स्वधर्मरूप कर्मको
परधर्मात्	=परधर्मसे	**श्रेयान्**	=श्रेष्ठ है। (कारण कि)	**कुर्वन्**	=करता हुआ (मनुष्य)
विगुणः	=गुणरहित (भी)	**स्वभावनियतम्**	= स्वभावसे नियत किये हुए	**किल्बिषम्**	=पापको
				न, आप्नोति	=प्राप्त नहीं होता।

विशेष भाव—स्वधर्मरूप कर्मको करनेसे पाप बन तो सकता है, पर लग नहीं सकता—'**कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**'। पाप लगनेमें मुख्य कारण भाव है, क्रिया नहीं। अतः पाप कर्मोंसे नहीं लगता, प्रत्युत स्वार्थ और अभिमान आनेसे लगता है।

~~~

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**न, त्यजेत्**	=त्याग नहीं करना चाहिये;	**अग्निः**	=अग्निकी
सदोषम्	=दोषयुक्त होनेपर	**हि**	=क्योंकि	**इव**	=तरह (किसी-न-किसी)
अपि	=भी	**सर्वारम्भाः**	=सम्पूर्ण कर्म	**दोषेण**	=दोषसे
सहजम्	=सहज	**धूमेन**	=धुएँसे	**आवृताः**	=युक्त हैं।
कर्म	=कर्मका				

विशेष भाव—निषिद्ध कर्ममें आसक्ति होनेसे अथवा निषिद्ध रीतिसे भोग भोगनेके कारण ही विहित कर्म कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें विहित कर्म सहज स्वाभाविक है, इसमें परिश्रम नहीं है।

इकतालीसवें श्लोकसे यहाँतक 'स्वकर्म', 'स्वधर्म' और 'सहजकर्म' शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि गीता स्वकर्म और सहजकर्मको ही 'स्वधर्म' मानती है।

विहित कर्म करनेमें दोष तो होता है, पर कामना, सुखबुद्धि, भोगबुद्धि न रहनेसे दोष लगता नहीं। तात्पर्य है कि दोष लगना या न लगना कर्ताकी नीयतपर निर्भर है; जैसे—डॉक्टरकी नीयत ठीक हो, पैसोंका उद्देश्य न होकर सेवाका उद्देश्य हो तो आपरेशनमें रोगीका अंग काटनेपर भी उसको दोष नहीं लगता, प्रत्युत निःस्वार्थभाव और हितकी दृष्टि होनेसे पुण्य होता है।

~~~

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥ ४९॥

सर्वत्र, असक्तबुद्धिः	=जिसकी बुद्धि सब जगह आसक्ति-रहित है,	**विगतस्पृहः**	=जो स्पृहारहित है (वह मनुष्य)	**परमाम्**	=सर्वश्रेष्ठ
जितात्मा	=जिसने शरीरको वशमें कर रखा है,	**सन्न्यासेन**	=सांख्ययोगके द्वारा	**नैष्कर्म्यसिद्धिम्**	= नैष्कर्म्यसिद्धिको
				अधिगच्छति	=प्राप्त हो जाता है।
~~~

विशेष भाव—नैष्कर्म्यसिद्धिका अर्थ है—कर्म सर्वथा अकर्म हो जायँ, कर्मोंके साथ बिलकुल सम्बन्ध न रहे, कर्म होते हुए भी लिप्तता न हो—'**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः**' (गीता ४। १८)। कर्मोंको न करना नैष्कर्म्य (निष्कर्मता) नहीं है*, प्रत्युत कर्म करना तो साधकके लिये आवश्यक है†।

'**असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः**'—यह कर्मयोगकी सिद्धि है‡, जिसके होनेपर कर्मयोगी सांख्ययोगमें जाता है$ और सांख्ययोगसे नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्मयोगसे तो 'नैष्कर्म्यसिद्धि' होती है—'**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**' (गीता ३। ४), पर भक्तियोगसे 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' होती है। कर्मयोग और ज्ञानयोग तो 'निष्ठा' है—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा०**' (३। ३), पर कर्मयोग-ज्ञानयोगकी 'परा निष्ठा' भक्तिसे ही होगी—'**निष्ठा ज्ञानस्य या परा**' (१८। ५०)। तात्पर्य है कि 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' और 'परा निष्ठा'—दोनों भक्तिसे होती हैं।

~~~

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ ५०॥

कौन्तेय	= हे कौन्तेय!	**या**	= जो कि	**तथा**	= उस प्रकारको (तुम)
सिद्धिम्	= सिद्धि (अन्तःकरणकी शुद्धि)को	**ज्ञानस्य**	= ज्ञानकी	**मे**	= मुझसे
प्राप्तः	= प्राप्त हुआ साधक	**परा**	= परा	**समासेन**	= संक्षेपमें
ब्रह्म	= ब्रह्मको	**निष्ठा**	= निष्ठा है,	**एव**	= ही
		यथा	= जिस प्रकारसे	**निबोध**	= समझो।
		आप्नोति	= प्राप्त होता है,		

विशेष भाव—यहाँ '**सिद्धिम्**' पदका अर्थ है—साधनरूप कर्मयोगसे होनेवाली अन्तःकरणकी पूर्ण शुद्धि, जिसकी प्राप्तिके बाद कर्मयोगी ज्ञानयोगमें अथवा भक्तियोगमें कहीं भी जा सकता है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ९)

'तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक भोगोंसे वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी लीला-कथाके श्रवण-कीर्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाय।'

अगर कर्मयोगीके भीतर ज्ञानके संस्कार हैं तो वह ज्ञानमें चला जायगा और अगर भक्तिके संस्कार हैं तो वह भक्तिमें चला जायगा।

अगर किसी एकका आग्रह न हो तो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों 'साधन' रूपसे भी हैं और 'साध्य' रूपसे भी हैं। साधनरूपसे तो तीनों अलग-अलग हैं, पर साध्यरूपसे तीनों एक ही हैं। इसलिये गीतामें

---

* **न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।**
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गीता ३। ४)

'मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागमात्रसे सिद्धिको ही प्राप्त होता है।'

† **आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।** (गीता ६। ३)

'योग (समता)में आरूढ़ होनेवाले मननशील योगीके लिये कर्तव्य कर्म करना कारण है।'

‡ **विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।**
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (गीता २। ७१)

'जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके निर्मम, निरहंकार और निःस्पृह होकर विचरता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

$ **योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥** (गीता ५। ६)
~~~

कहीं तो भगवान्ने भक्तिके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति अर्थात् साधन-भक्तिसे साध्य-ज्ञानकी प्राप्ति बतायी है—'**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**' (१३। १०), '**मां च योऽव्यभिचारेण.......ब्रह्मभूयाय कल्पते**' (१४। २६) और कहीं ज्ञानसे भक्तिकी प्राप्ति अर्थात् साधन-ज्ञानसे साध्य-भक्तिकी प्राप्ति बतायी है—'**सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र.......सर्वभूतहिते रताः**' (१२। ४), '**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा ....मद्भक्तिं लभते पराम्**' (१८। ५४)।

भगवान्ने पहले '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**' (१८। ४६)—इन पदोंसे कर्मयोगके द्वारा भक्तिकी सिद्धि बतायी और यहाँ '**सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म**' पदोंसे कर्मयोगके द्वारा ज्ञानयोगकी सिद्धि बताते हैं। पाँचवें अध्यायमें भी साधनरूप कर्मयोगसे ज्ञानयोगकी शीघ्र सिद्धि बतायी है—'**योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति**' (५। ६)।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ ५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५३॥

विशुद्धया = (जो) विशुद्ध (सात्त्विकी)
बुद्ध्या = बुद्धिसे
युक्तः = युक्त,
वैराग्यम् = वैराग्यके
समुपाश्रितः = आश्रित,
विविक्तसेवी = एकान्तका सेवन करनेवाला (और)
लघ्वाशी = नियमित भोजन करनेवाला (साधक)
धृत्या = धैर्यपूर्वक
आत्मानम् = इन्द्रियोंका
नियम्य = नियमन करके,
यतवाक्कायमानसः = शरीर-वाणी-मनको वशमें करके,
शब्दादीन् = शब्दादि
विषयान् = विषयोंका
त्यक्त्वा = त्याग करके
च = और
रागद्वेषौ = राग-द्वेषको
व्युदस्य = छोड़कर
नित्यम् = निरन्तर
ध्यानयोगपरः = ध्यानयोगके परायण हो जाता है, (वह)
अहङ्कारम् = अहंकार,
बलम् = बल,
दर्पम् = दर्प,
कामम् = काम,
क्रोधम् = क्रोध
च = और
परिग्रहम् = परिग्रहसे
विमुच्य = रहित होकर (एवं)
निर्ममः = ममतारहित (तथा)
शान्तः = शान्त होकर
ब्रह्मभूयाय = ब्रह्मप्राप्तिका
कल्पते = पात्र हो जाता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥

ब्रह्मभूतः = (वह) ब्रह्मरूप बना हुआ
प्रसन्नात्मा = प्रसन्न मनवाला साधक
न = न तो (किसीके लिये)
शोचति = शोक करता है (और)
न = न (किसीकी)
काङ्क्षति = इच्छा ही करता है। (ऐसा)
सर्वेषु = सम्पूर्ण
भूतेषु = प्राणियोंमें
समः = समभाववाला साधक
पराम्, मद्भक्तिम् = मेरी पराभक्तिको
लभते = प्राप्त हो जाता है।

विशेष भाव—ज्ञानयोगके जिस साधकमें भक्तिके संस्कार होते हैं, जो अपने मतका आग्रह नहीं रखता, मुक्ति अर्थात् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदको ही सर्वोपरि नहीं मानता और भक्तिका खण्डन, निन्दा नहीं करता, उसको मुक्तिमें सन्तोष नहीं होता। अतः उसको मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भक्ति (प्रेम)की प्राप्ति हो जाती है।

जो अपनी दृष्टिसे अर्थात् अपनी मान्यतासे ब्रह्मरूप बना हुआ है, ब्रह्म हुआ नहीं है, उसके लिये यहाँ '**ब्रह्मभूतः**' पद आया है। ब्रह्मभूत होनेके बाद जीवका ब्रह्मके साथ तात्त्विक सम्बन्ध (साधर्म्य) हो जाता है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २)। तात्त्विक सम्बन्ध होना ही मुक्ति है। फिर सर्वत्र परिपूर्ण अनन्तब्रह्माण्डनायक परमात्मामें अपने-आपको विलीन (समर्पित) कर देनेसे परमात्माके साथ आत्मीय सम्बन्ध (अभिन्नता) हो जाता है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८)। आत्मीय सम्बन्ध होना ही पराभक्ति (प्रेम) की प्राप्ति है।

ज्ञानमार्गमें जड़ताका त्याग मुख्य है। जड़ताका त्याग विवेक-साध्य है। विवेकपूर्वक जड़ताका त्याग करनेपर त्याज्य वस्तुका संस्कार शेष रह सकता है, जिससे दार्शनिक मतभेद पैदा होते हैं। परन्तु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर त्याज्य वस्तुका संस्कार नहीं रहता; क्योंकि भक्त त्याग नहीं करता, प्रत्युत सबको भगवान्‌का स्वरूप मानता है—'**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। प्रेमकी प्राप्ति विवेकसाध्य नहीं है, प्रत्युत विश्वाससाध्य है। विश्वासमें केवल भगवत्कृपापर ही भरोसा है। इसलिये जिसके भीतर भक्तिके संस्कार होते हैं, उसको भगवत्कृपा मुक्तिमें सन्तुष्ट नहीं होने देती, प्रत्युत मुक्तिके रस (अखण्डरस)को फीका करके प्रेमका रस (अनन्तरस) प्रदान कर देती है।

संसारके सम्बन्धसे अशान्ति होती है, इसलिये कर्मयोगमें संसारसे सम्बन्ध छूटनेपर 'शान्त आनन्द' मिलता है। ज्ञानयोगमें निजस्वरूपमें स्थिति होनेसे निजानन्द अर्थात् 'अखण्ड आनन्द' मिलता है। भक्तियोगमें भगवान्‌से अभिन्नता होनेपर परमानन्द अर्थात् 'अनन्त आनन्द' (प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम) मिलता है।

~~~

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ५५॥

भक्त्या	= (उस) पराभक्तिसे	**अस्मि**	= हूँ—(इसको)	**तत्त्वतः**	= तत्त्वसे
माम्	= मुझे,	**तत्त्वतः**	= तत्त्वसे	**ज्ञात्वा**	= जानकर
यावान्	= (मैं) जितना हूँ	**अभिजानाति**	= जान लेता है,	**तदनन्तरम्**	= तत्काल
च	= और	**ततः**	= फिर	**विशते**	= (मुझमें) प्रविष्ट हो जाता है।
यः	= जो	**माम्**	= मुझे		

विशेष भाव—'मैं जितना हूँ और जो हूँ' (**यावान् यश्चास्मि**)—यह बात सगुणकी ही है; क्योंकि '**यावान्-तावान्**' निर्गुणमें हो सकता ही नहीं, प्रत्युत सगुणमें ही हो सकता है। चतुःश्लोकी भागवतमें भी भगवान्‌ने '**यावान्**' पदका प्रयोग करते हुए ब्रह्माजीसे कहा है—

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३१)

'मैं जितना हूँ, जिस भाववाला हूँ, जिन रूप, गुण और कर्मोंवाला हूँ, उस मेरे (समग्ररूपके) तत्त्वका यथार्थ अनुभव तुम्हें मेरी कृपासे ज्यों-का-त्यों हो जाय।'

'**यावान् यश्चास्मि**' का वर्णन भगवान्‌ने सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें '**साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः**' पदोंमें किया था। इससे सगुणकी विशेषता तथा मुख्यता सिद्ध होती है।

ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको जब (**ज्ञानोत्तरकालमें**) भक्ति प्राप्त होती है, तब उसमें तत्त्वसे जानना (**ज्ञात्वा**) और प्रविष्ट होना (**विशते**)—ये दो ही होते हैं, दर्शन नहीं होते। उनमें कोई कमी तो नहीं रहती, पर दर्शनकी इच्छा उनमें नहीं होती। परन्तु आरम्भसे ही भक्तिमार्गसे चलनेवालेको तत्त्वसे जानने (**ज्ञातुम्**) और प्रविष्ट होने
~~~

(प्रवेष्टुम्)के सिवाय भगवान्‌के दर्शन **(द्रष्टुम्)** भी होते हैं*। इसलिये ज्ञानमार्गी सन्तोंमें भगवत्प्रेम (भक्ति)की बात तो आती है, पर दर्शनकी बात नहीं आती।

जैसे विभिन्न मार्गोंसे आनेवाले व्यक्ति दरवाजेमें प्रविष्ट होनेपर एक साथ मिल जाते हैं, ऐसे ही विभिन्न योग-मार्गोंपर चलनेवाले साधक भगवान्‌में प्रविष्ट होनेपर **(विशते)** एक हो जाते हैं अर्थात् अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध भी न रहनेसे उनमें कोई मतभेद नहीं रहता।

प्रेमकी दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) कभी भक्त प्रेममें डूब जाता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद दो नहीं रहते, एक हो जाते हैं और (२) कभी भक्तमें प्रेमका उछाल आता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद एक होते हुए भी लीलाके लिये दो हो जाते हैं। यहाँ पहली अवस्थाको बतानेके लिये '**विशते**' पद आया है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥

मद्व्यपाश्रयः	= मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त	**कुर्वाणः**	= करता हुआ	**अव्ययम्**	= अविनाशी
सदा	= सदा	**अपि**	= भी	**पदम्**	= पदको
सर्वकर्माणि	= सब कर्म	**मत्प्रसादात्**	= मेरी कृपासे	**अवाप्नोति**	= प्राप्त हो जाता है।
		शाश्वतम्	= शाश्वत		

विशेष भाव—ज्ञानयोगीके लिये तो भगवान्‌ने बताया कि वह सब विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक निरन्तर ध्यानके परायण रहे, तब वह अहंता, ममता, काम, क्रोध आदिका त्याग करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है (१८।५१—५३)। परन्तु भक्तके लिये यहाँ बताया कि वह अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सब विहित कर्मोंको सदा करते हुए भी मेरी कृपासे परमपदको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि उसने मेरा आश्रय लिया है—'**मद्व्यपाश्रयः**'। तात्पर्य है कि भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे सुगमतासे कल्याण हो जाता है। भक्तको अपना कल्याण खुद नहीं करना पड़ता, प्रत्युत अपने बल, विद्या आदिका किंचिन्मात्र भी आश्रय न रखकर केवल विश्वासपूर्वक भगवान्‌का ही आश्रय लेना पड़ता है। फिर भगवत्कृपा ही उसका कल्याण कर देती है—'**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्**'। भगवान् भी केवल भक्तके आश्रयको देखते हैं†, उसके दोषोंको नहीं देखते। रामायणमें आया है—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥
(बाल० २९। ३)

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
(उत्तर० १। ३)

'**मद्व्यपाश्रयः**' का अर्थ है—मेरा विशेष आश्रय अर्थात् अनन्य आश्रय, जिसमें दूसरे किसीका किंचिन्मात्र भी आश्रय न हो।

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥
(मानस, अरण्य० १०। ४)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

---

* **भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।**
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ (गीता ११। ५४)

† **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।** (गीता ४। ११)

चेतसा	=चित्तसे	**मत्परः**	=मेरे परायण होकर (तथा)	**सततम्**	=निरन्तर
सर्वकर्माणि	= सम्पूर्ण कर्म			**मच्चित्तः**	=मुझमें चित्तवाला
मयि	=मुझमें	**बुद्धियोगम्**	=समताका		
सन्न्यस्य	=अर्पण करके,	**उपाश्रित्य**	=आश्रय लेकर	**भव**	=हो जा।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें शाश्वत पदकी प्राप्ति बताकर अब उसकी विधि बताते हैं कि वह कैसे प्राप्त होगा। साधकके लिये दो ही खास काम हैं—संसारके सम्बन्धका त्याग और भगवान्‌के साथ सम्बन्ध (प्रेम)। पूर्वश्लोकमें आये '**मद्व्यपाश्रयः**' पदमें भगवान्‌के साथ सम्बन्धकी मुख्यता है और इस श्लोकमें आये '**बुद्धियोगमुपाश्रित्य**' पदमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदकी मुख्यता है।

'**बुद्धियोगमुपाश्रित्य**' कहनेका तात्पर्य है कि संसारका सूक्ष्म सम्बन्ध भी न रहे—'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय**' (गीता २। ४९), किसीके प्रति किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष न रहे।

एकमात्र भगवान्‌का चिन्तन करनेसे समता (बुद्धियोग) स्वतः आ जाती है, इसलिये '**मच्चित्तः सततं भव**' कहा है।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ ५८॥

मच्चित्तः	=मुझमें चित्तवाला होकर (तू)	**अथ**	=और	**न**	=नहीं
		चेत्	=यदि	**श्रोष्यसि**	=सुनेगा (तो)
मत्प्रसादात्	=मेरी कृपासे	**त्वम्**	=तू		
सर्वदुर्गाणि	=सम्पूर्ण विघ्नोंको	**अहङ्कारात्**	=अहंकारके कारण (मेरी बात)	**विनङ्क्ष्यसि**	=तेरा पतन हो जायगा।
तरिष्यसि	=तर जायगा				

विशेष भाव—भक्तका काम केवल भगवान्‌का आश्रय लेना है, भगवान्‌का ही चिन्तन करना है। फिर उसके सब काम भगवान् ही करते हैं। भगवान् भक्तपर विशेष कृपा करके उसके साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर देते हैं और अपनी प्राप्ति भी करा देते हैं—'**योगक्षेमं वहाम्यहम्** ' (गीता ९। २२)। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—**विशेषानुग्रहश्च**' (३। ४। ३८) 'भगवान्‌की भक्तिका अनुष्ठान करनेसे भगवान्‌का विशेष अनुग्रह होता है।' वास्तवमें मनुष्यपर भगवान्‌की कृपा तो है ही, पर भगवान्‌का आश्रय लेनेसे भक्तको उसका विशेष अनुभव होता है।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥

अहङ्कारम्	=अहंकारका	**न, योत्स्ये**	=युद्ध नहीं करूँगा,		(क्योंकि)
आश्रित्य	=आश्रय लेकर	**ते**	=तेरा	**प्रकृतिः**	=(तेरी) क्षात्र-प्रकृति
यत्	=(तू) जो	**एषः**	=यह	**त्वाम्**	=तुझे
इति	=ऐसा	**व्यवसायः**	=निश्चय	**नियोक्ष्यति**	=युद्धमें लगा देगी।
मन्यसे	=मान रहा है कि (मैं)	**मिथ्या**	=मिथ्या (झूठा) है;		

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें यह बात आयी कि अहंकारके कारण 'फल' ठीक नहीं होगा और इस श्लोकमें यह बात आयी कि अहंकारके कारण 'क्रिया' ठीक नहीं होगी। तात्पर्य है कि सुनने या न सुननेसे पतन नहीं

होगा, प्रत्युत अहंकारके कारण पतन होगा। कर्म करना या न करना बाधक नहीं है, प्रत्युत अहंकार बाधक है।

भगवान्‌ने कहा कि मैं अपनी प्राप्ति भी करा दूँगा और तेरे विघ्नोंको भी दूर कर दूँगा (१८। ५६, ५८)। परन्तु इतना कहनेपर भी अर्जुन बोले नहीं, जब कि उनको यहाँ **'करिष्ये वचनं तव'** कह देना चाहिये था। तब भगवान् कहते हैं कि अगर तू भूलसे मेरी बात न सुने तो कोई बात नहीं, पर तू अहंकारसे मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। भगवान्‌का भाव है कि जैसे भक्तका सब काम (साधन और सिद्धि) मैं कर देता हूँ, ऐसे ही भक्तको भी चाहिये कि वह सब प्रकारसे मेरा ही आश्रय ले। परन्तु मेरा आश्रय न लेकर वह अहंकारका आश्रय लेगा तो उसका पतन हो जायगा। अहंकारका आश्रय लेनेसे **'मद्व्यपाश्रय'** नहीं होगा; क्योंकि मेरे आश्रयकी जगह मेरी अपरा प्रकृति 'अहंकार' का आश्रय ले लिया। कर्तव्य कर्म (युद्ध)में एक तो मैं लगाता हूँ और एक प्रकृति लगाती है। अगर तू मेरी बात नहीं मानेगा तो तेरी क्षात्र प्रकृति तेरेको युद्धमें लगायेगी। प्रकृति लगायेगी तो जिम्मेवारी तेरी होगी और मेरी बात सुनकर कर्तव्यमें लगेगा तो जिम्मेवारी मेरी होगी। तेरी जिम्मेवारी होनेसे तू बद्ध हो जायगा और मेरी जिम्मेवारी होनेसे तू मुक्त हो जायगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**मोहात्**	=मोहके कारण	**तत्**	=उसको
स्वेन	=अपने	**यत्**	=जिस युद्धको	**अपि**	=भी (तू)
स्वभावजेन	=स्वभावजन्य	**न**	=नहीं	**अवशः**	=(क्षात्र प्रकृतिके) परवश होकर
कर्मणा	=कर्मसे	**कर्तुम्**	=करना		
निबद्धः	=बँधा हुआ (तू)	**इच्छसि**	=चाहता,	**करिष्यसि**	=करेगा।

विशेष भाव—स्वभाव दो तरहका होता है—(१) विहित कर्मोंका स्वभाव और (२) निषिद्ध कर्मोंका स्वभाव। इनमें विहित कर्मोंका स्वभाव तो स्वतः होनेसे 'स्व-स्वभाव' है, पर निषिद्ध कर्मोंका स्वभाव आगन्तुक होनेसे 'पर-स्वभाव' है। विहित कर्मोंका स्वभाव तो सजातीय होनेसे जन्य नहीं है, पर निषिद्ध कर्मोंका स्वभाव विजातीय होनेसे जन्य (आसक्तिजन्य, कुसंगजन्य) है। मनुष्यका खास कर्तव्य है —अपना स्वभाव ठीक करना अर्थात् निषिद्ध कर्मोंके स्वभावका त्याग करके विहित कर्मोंके स्वभावके अनुसार आचरण करना। भगवान्‌ने विहित कर्मोंके स्वभावके अनुसार ही अपने वर्ण-धर्मका पालन करनेकी आज्ञा दी है।

भगवान् कहते हैं कि चाहे कर्तव्यमात्र समझकर युद्ध कर, चाहे मेरी आज्ञा मानकर युद्ध कर, युद्ध तो तेरेको करना ही पड़ेगा। मेरा आश्रय न लेनेसे तेरा अहंकार रहेगा, जिससे विहित कर्म भी बाँधनेवाला हो जायगा। परन्तु मेरा आश्रय लेनेसे अहंकार नहीं रहेगा। अहंकार ही बाँधनेवाला होता है। जो प्रकृतिके परवश नहीं होता, जिसकी प्रकृति महान् शुद्ध होती है, ऐसा ज्ञानी महापुरुष भी जब प्रकृतिके अनुसार क्रिया करता है, फिर प्रकृतिके परवश हुआ तथा अशुद्ध प्रकृतिवाला मनुष्य प्रकृतिके विरुद्ध कर्म कैसे कर सकता है?

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

अर्जुन	=हे अर्जुन!	**तिष्ठति**	=रहता है (और)	**सर्वभूतानि**	=सम्पूर्ण प्राणियोंको (उनके स्वभावके अनुसार)
ईश्वरः	=ईश्वर	**मायया**	=अपनी मायासे		
सर्वभूतानाम्	=सम्पूर्ण प्राणियोंके	**यन्त्रारूढानि**	=शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए		
हृद्देशे	=हृदयमें			**भ्रामयन्**	=भ्रमण कराता रहता है।

विशेष भाव—'भ्रामयन्' का तात्पर्य है कि संसारमात्रका संचालन भगवान्‌की ही शक्तिसे हो रहा है—**'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'** (गीता १०। ८)। भगवान् प्राणियोंको उनके स्व-स्वभावके अनुसार कर्म करनेकी प्रेरणा तो करते हैं, पर उसमें अपना आग्रह नहीं रखते। भगवान्‌का आग्रह न होनेके कारण ही मनुष्य अपनी कामना-ममता-आसक्तिके वशीभूत होकर पुण्य अथवा पाप करता है और उनका फल भोगनेके लिये स्वर्गादि लोकोंमें अथवा नरकों और नीच योनियोंमें जाता है। परन्तु जो भगवान्‌के शरण हो जाता है, उसको भगवान् विशेष प्रेरणा करते हैं। अहंकार न रहनेसे वह जो कुछ करता है, भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार ही करता है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

भारत	=हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! (तू)	**शरणम्**	=शरणमें	**शान्तिम्**	=शान्ति (संसारसे सर्वथा उपरति) को
		गच्छ	=चला जा।		
सर्वभावेन	=सर्वभावसे	**तत्प्रसादात्**	=उसकी कृपासे (तू)	**शाश्वतम्**	=(और) अविनाशी
तम्	=उस ईश्वरकी			**स्थानम्**	=परमपदको
एव	=ही	**पराम्**	=परम	**प्राप्स्यसि**	=प्राप्त हो जायगा।

विशेष भाव—जीव ईश्वरका ही अंश है, इसलिये भगवान् ईश्वरकी ही शरणमें जानेके लिये कहते हैं। ईश्वरके शरण होनेसे अहंकार नहीं रहता। जबतक जीव ईश्वरके वश (शरण)में नहीं होता, तभीतक वह प्रकृतिके वशमें रहता है। वह जितना-जितना जड़ताकी ओर जाता है, उतनी-उतनी आसुरी सम्पत्ति आती है और जितना-जितना चिन्मयताकी ओर जाता है, उतनी-उतनी दैवी सम्पत्ति आती है।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

इति	=यह	**मया**	=मैंने	**विमृश्य**	=विचार करके
गुह्यात्	=गुह्यसे भी	**ते**	=तुझे	**यथा**	=जैसा
गुह्यतरम्	=गुह्यतर	**आख्यातम्**	=कह दिया।	**इच्छसि**	=चाहता है,
ज्ञानम्	=(शरणागतिरूप) ज्ञान	**एतत्**	=(अब तू) इसपर	**तथा**	=वैसा
		अशेषेण	=अच्छी तरहसे	**कुरु**	=कर।

विशेष भाव—'यथेच्छसि तथा कुरु'—यह भगवान् त्याग करनेके लिये नहीं कहते हैं, प्रत्युत अपनी तरफ विशेषतासे खींचनेके लिये कहते हैं; जैसे—गेंद फेंकते हैं विशेषतासे पीछे लेनेके लिये, न कि त्याग करनेके लिये। तात्पर्य है कि पूर्वश्लोकमें अन्तर्यामी निराकार ईश्वरकी शरणागतिकी बात कहकर अब भगवान् अर्जुनको अपनी तरफ अर्थात् सगुण-साकारकी तरफ खींचना चाहते हैं, जिससे अर्जुन समग्रकी प्राप्तिसे रीता न रह जाय। निराकारमें साकार नहीं आता, पर साकारमें निराकार भी आ जाता है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥

सर्वगुह्यतमम्	=सबसे अत्यन्त गोपनीय	**शृणु**	=सुन। (तू)	**इति**	=यह (विशेष)
परमम्	=सर्वोत्कृष्ट	**मे**	=मेरा	**हितम्**	=हितकी बात (मैं)
वचः	=वचन (तू)	**दृढम्**	=अत्यन्त	**ते**	=तुझे
भूयः	=फिर	**इष्टः**	=प्रिय मित्र	**वक्ष्यामि**	=कहूँगा।
मे	=मुझसे	**असि**	=है,		
		ततः	=इसलिये		

विशेष भाव—'तमेव शरणं गच्छ' (१८। ६२)—इसमें निराकारकी शरणागति है और **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८। ६६)—इसमें साकारकी शरणागति है। निराकारकी शरणमें जानेसे मुक्ति हो जायगी; परन्तु साकारकी शरणमें जानेसे मुक्तिके साथ-साथ प्रेमकी भी प्राप्ति हो जायगी। इसलिये साकारकी शरणागति 'सर्वगुह्यतम' है। भगवान् भक्तिके प्रसंगमें ही 'परम वचन' कहते हैं। दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है—**'शृणु मे परमं वचः'**।

अर्जुनने भगवान्‌से कहा था कि मैं आपका शिष्य हूँ—**'शिष्यस्तेऽहम्'** (२। ७), पर भगवान् कहते हैं कि तू मेरा इष्ट मित्र है—**'इष्टोऽसि'**! तात्पर्य है कि गुरु तो चेला बनाता है, पर भगवान् चेला न बनाकर अपना मित्र बनाते हैं!

भगवान्‌की तो हरेक बात ही हित करनेवाली है, पर उसमें भी विशेष हितकी बात होनेसे भगवान् **'ततो वक्ष्यामि ते हितम्'** कहते हैं।

~~~

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

मद्भक्तः	=(तू) मेरा भक्त	**नमस्कुरु**	=नमस्कार कर। (ऐसा करनेसे तू)	**सत्यम्**	=सत्य
भव	=हो जा,	**माम्**	=मुझे	**प्रतिजाने**	=प्रतिज्ञा करता हूँ; (क्योंकि तू)
मन्मनाः	=मुझमें मनवाला (हो जा),	**एव**	=ही	**मे**	=मेरा
मद्याजी	=मेरा पूजन करनेवाला (हो जा और)	**एष्यसि**	=प्राप्त हो जायगा (-यह मैं)	**प्रियः**	=अत्यन्त प्रिय
माम्	=मुझे	**ते**	=तेरे सामने	**असि**	=है।

विशेष भाव—अर्जुन भगवान्‌को प्राप्त ही हैं; अतः यहाँ **'मामेवैष्यसि'** कहनेका तात्पर्य है कि तेरेको समग्र **('माम्')** की प्राप्ति हो जायगी, जिसके लिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें कहा था—**'असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु'**। फिर तेरी मेरेसे आत्मीयता हो जायगी, जिसके लिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें कहा था—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (७। १८), **'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (७। १७)।

~~~

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

सर्वधर्मान्	=सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय	**माम्**	=मेरी	**त्वा**	=तुझे
परित्यज्य	=छोड़कर (तू)	**शरणम्**	=शरणमें	**सर्वपापेभ्यः**	=सम्पूर्ण पापोंसे
एकम्	=केवल	**व्रज**	=आ जा।	**मोक्षयिष्यामि**	= मुक्त कर दूँगा,
		अहम्	=मैं	**मा, शुचः**	=चिन्ता मत कर।

विशेष भाव—भगवान्‌के साथ कर्मयोगीका 'नित्य' सम्बन्ध होता है, ज्ञानयोगीका 'तात्त्विक' सम्बन्ध होता है और शरणागत भक्तका 'आत्मीय' सम्बन्ध होता है। नित्य सम्बन्धमें संसारके अनित्य सम्बन्धका त्याग है, तात्त्विक सम्बन्धमें तत्त्वके साथ एकता (तत्त्वबोध) है और आत्मीय सम्बन्धमें भगवान्‌के साथ अभिन्नता (प्रेम) है। नित्य-सम्बन्धमें शान्तरस है, तात्त्विक सम्बन्धमें अखण्डरस है और आत्मीय सम्बन्धमें अनन्तरस है। अनन्तरसकी प्राप्ति हुए बिना जीवकी भूख सर्वथा नहीं मिटती। अनन्तरसकी प्राप्ति शरणागतिसे होती है। इसलिये शरणागति सर्वगुह्यतम एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है।

'**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' पदका अर्थ 'सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूपसे त्याग' नहीं है, प्रत्युत 'सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयका त्याग' है। तात्पर्य है कि किसी भी धर्म (कर्तव्य कर्म)का आश्रय न हो। जैसे, पहले अध्यायमें आया है—'**त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च**' (१। ३३)। वहाँ भी '**प्राणांस्त्यक्त्वा**' का अर्थ 'प्राणोंका त्याग' न लेकर 'प्राणोंके आश्रय (आशा)का त्याग' ही लिया जा सकता है; क्योंकि प्राणोंका त्याग करके कोई युद्धमें कैसे खड़ा होगा? असम्भव बात है। इसी तरह पहले अध्यायके नवें श्लोकमें आया है—'**अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः**' तो इसका अर्थ यह नहीं है कि बहुत-से अन्य शूरवीर अपने जीवनका त्याग करके खड़े हैं। इसका अर्थ है कि वे शूरवीर अपने जीवनकी आशाका त्याग करके खड़े हैं अर्थात् उनको अपने जीवनकी परवाह नहीं है। अतः यहाँ भी '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' पदका अर्थ 'धर्मोंके आश्रयका त्याग' लेना चाहिये। जैसे शूरवीरोंको अपने प्राणोंकी अथवा अपने जीवनकी परवाह नहीं है, ऐसे ही भक्तको दूसरे धर्मोंकी परवाह नहीं है। उसकी दृष्टिमें दूसरे धर्मों (कर्तव्य कर्मों) का महत्त्व नहीं है। कारण कि भगवान्‌की शरणागतिका जितना महत्त्व है, उतना धर्मोंका महत्त्व नहीं है। धर्म (कर्तव्य-कर्म)में जड़ताका और शरणागतिमें चिन्मयताका सम्बन्ध रहता है। कर्तव्य कर्म अपने वर्णाश्रमको लेकर होता है; अतः उसमें शरीरकी मुख्यता रहती है। परन्तु शरणागति स्वयंको लेकर होती है; अतः उसमें भगवान्‌की मुख्यता रहती है।

'**मामेकं शरणं व्रज**' का तात्पर्य है—बाहरसे (व्यवहारमें) सबके साथ प्रेम, आदर-सत्कारका व्यवहार करनेपर भी भीतरसे किसीकी गरज न हो, किसीका आश्रय न हो, केवल भगवान्‌का ही आश्रय हो—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरौ जीव-जड़ताई॥

(विनयपत्रिका १०३)

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

वास्तवमें पूर्ण शरणागति भगवान् ही प्रदान करते हैं। जैसे छोटा बालक अपना हाथ ऊँचा करता है तो माँ उसको उठा लेती है, ऐसे ही भक्त अपनी शक्तिसे भगवान्‌के सम्मुख होता है, शरणागतिकी तैयारी करता है तो भगवान् उसको पूर्ण शरणागति दे देते हैं।

अर्जुन पापोंसे छूटना चाहते थे, इसलिये भगवान्‌ने भी पापोंसे मुक्त करनेकी बात कही है; क्योंकि भगवान्‌का स्वभाव है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११)। वास्तवमें केवल पापोंसे मुक्ति ही शरणागतिका फल नहीं है। अनन्य शरणागतिसे मनुष्य भगवान्‌से अभिन्न होकर अनन्तरसको प्राप्त कर सकता है! इसलिये साधकको पापोंसे अथवा दुःखोंसे मुक्ति पानेकी इच्छा न रखकर केवल भगवान्‌के शरणागत हो जाना चाहिये। कुछ भी चाहनेसे कुछ (अन्तवाला) ही मिलता है, पर कुछ भी न चाहनेसे सब कुछ (अनन्त) मिलता है! भगवान् भी शरणागत भक्तके वशमें हो जाते हैं, उसके ऋणी हो जाते हैं।

यह शरणागति गीताका सार है, जिसको भगवान्‌ने विशेष कृपा करके कहा है। इस शरणागतिमें ही गीताके उपदेशकी पूर्णता होती है। इसके बिना गीता अधूरी रहती! इसलिये अर्जुनके द्वारा '**करिष्ये वचनं तव**' कहकर पूर्ण शरणागति स्वीकार करनेपर फिर भगवान् नहीं बोले।

~~~~
~~~~

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥

इदम्	=यह सर्वगुह्यतम वचन	**कदाचन**	=कभी	**च**	=और
ते	=तुझे	**न**	=नहीं कहना चाहिये	**यः**	=जो
अतपस्काय	=अतपस्वीको	**च**	=तथा	**माम्**	=मुझमें
न	=नहीं	**अशुश्रूषवे**	=जो सुनना नहीं चाहता,	**अभ्यसूयति**	=दोषदृष्टि करता है, (उसको भी)
वाच्यम्	=कहना चाहिये;	**न**	=(उसको) नहीं कहना चाहिये	**न**	=नहीं कहना चाहिये।
अभक्ताय	=अभक्तको				

विशेष भाव— भगवान्‌ने अभक्तको और दोषदृष्टिवालेको सर्वगुह्यतम वचन न कहनेपर विशेष जोर दिया है। अभक्त और दोषदृष्टिवालेको कहनेमें जितना दोष है, उतना दोष अतपस्वी और सुनना न चाहनेवालेको कहनेमें नहीं है; क्योंकि अभक्त और दोषदृष्टिवालेमें विपरीत बुद्धि है।

'अभक्त' का अर्थ है—भक्तिका विरोधी। जिसमें भक्तिका अभाव है, उसको यहाँ 'अभक्त' नहीं कहा गया है। जो भक्त है, उसमें भी बेसमझीसे असूया-दोष आ सकता है*, पर भक्तिके कारण वह दोष स्वतः मिट जाता है।

'अशुश्रूषवे' का अर्थ है—जो अहंकारके कारण नहीं सुनना चाहता। जो बेसमझीसे नहीं सुनना चाहता, उसको यहाँ **'अशुश्रूषवे'** नहीं कहा गया है।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥

मयि	=मुझमें	**परमम्**	=परम	**माम्**	=मुझे
पराम्, भक्तिम्	=पराभक्ति	**गुह्यम्**	=गोपनीय संवाद (गीताग्रन्थ) को	**एव**	=ही
कृत्वा	=करके			**एष्यति**	=प्राप्त होगा—
यः	=जो	**मद्भक्तेषु**	=मेरे भक्तोंमें	**असंशयः**	=इसमें कोई सन्देह नहीं है।
इदम्	=इस	**अभिधास्यति**	=कहेगा, (वह)		

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ ६९॥

तस्मात्	=उसके समान	**न**	=नहीं है	**अन्यः**	=दूसरा कोई
मे	=मेरा	**च**	=और		
प्रियकृत्तमः	=अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला	**भुवि**	=इस भूमण्डलपर	**प्रियतरः**	=प्रियतर
				भविता	= होगा
मनुष्येषु	=मनुष्योंमें	**तस्मात्**	=उसके समान	**च**	=भी
कश्चित्	=कोई भी	**मे**	=मेरा	**न**	=नहीं।

---

* श्रद्धा होनेपर भी साथमें असूया-दोष रह सकता है, इसीलिये भगवान्‌ने श्रद्धाके साथ-साथ असूया-दोषसे रहित होनेकी बात भी कही है—**'श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तः'** (गीता ३।३१), **'श्रद्धावाननसूयश्च'** (गीता १८।७१)।

विशेष भाव—गीताकी शिक्षासे मनुष्यमात्रका प्रत्येक परिस्थितिमें सुगमतासे कल्याण हो सकता है, इसलिये भगवान् इसके प्रचारकी विशेष महिमा कहते हैं। गीताने युद्ध-जैसी परिस्थितिमें भी कल्याण होनेकी बात कही है—**'सुखदुःखे समे कृत्वा०'** (२। ३८), **'यत्करोषि यदश्नासि०'** (९। २७), **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य०'** (१८। ४६) आदि। जब युद्ध-जैसी परिस्थिति (घोर कर्म) में भी कल्याण हो सकता है, तो फिर अन्य परिस्थितिमें कैसे नहीं होगा?

जो मनुष्य भगवान्‌का प्यारा हो जाता है, उसको कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योग प्राप्त हो जाते हैं।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥

यः	= जो मनुष्य	**अध्येष्यते**	= अध्ययन करेगा,	**इष्टः**	= पूजित
आवयोः	= हम दोनोंके	**तेन**	= उसके द्वारा	**स्याम्**	= होऊँगा—
इमम्	= इस	**च**	= भी	**इति**	= ऐसा
धर्म्यम्	= धर्ममय	**अहम्**	= मैं	**मे**	= मेरा
संवादम्	= संवादका	**ज्ञानयज्ञेन**	= ज्ञानयज्ञसे	**मतिः**	= मत है।

विशेष भाव—भगवान् ज्ञानयज्ञको द्रव्यमय यज्ञसे भी श्रेष्ठ मानते हैं—**'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप'** (गीता ४। ३३)। जब गीताके अध्ययनका ही इतना माहात्म्य है तो फिर उसके अनुसार आचरण करनेका तो कहना ही क्या?

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

श्रद्धावान्	= श्रद्धावान्	**नरः**	= मनुष्य (इस गीता-ग्रन्थको)	**मुक्तः**	= शरीर छूटनेपर
च	= और			**पुण्यकर्मणाम्**	= पुण्यकारियोंके
अनसूयः	= दोषदृष्टिसे रहित	**शृणुयात्, अपि**	= सुन भी लेगा,	**शुभान्**	= शुभ
		सः	= वह	**लोकान्**	= लोकोंको
यः	= जो	**अपि**	= भी	**प्राप्नुयात्**	= प्राप्त हो जायगा।

विशेष भाव—**'शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्'**—श्रद्धा-भक्तिके तारतम्यसे गीताको सुननेमें तारतम्य रहता है और सुननेके तारतम्यसे श्रोताका स्वर्गादि लोकोंसे लेकर भगवल्लोकतक अधिकार हो जाता है अर्थात् अधिक श्रद्धा-भक्ति होगी तो वह भगवान्‌के धामको प्राप्त हो जायगा और कम श्रद्धा-भक्ति होगी तो वह अन्य लोकोंको प्राप्त हो जायगा।

गीताके अध्ययन और श्रवणकी तो बात ही क्या है, गीताको रखनेमात्रका भी बड़ा माहात्म्य है! एक सिपाही था। वह रातके समय कहींसे अपने घर आ रहा था। रास्तेमें उसने चन्द्रमाके प्रकाशमें एक वृक्षके नीचे एक सुन्दर स्त्री देखी। उसने उस स्त्रीसे बातचीत की तो उस स्त्रीने कहा—मैं आ जाऊँ क्या? सिपाहीने कहा—हाँ, आ जा। सिपाहीके ऐसा कहनेपर वह स्त्री, जो वास्तवमें चुड़ैल थी, उसके पीछे आ गयी। अब वह रोज रातमें उस सिपाहीके पास आती, उसके साथ सोती, उसका संग करती और सबेरे चली जाती। इस तरह वह उस सिपाहीका शोषण करने लगी अर्थात् उसका खून चूसकर उसकी शक्ति क्षीण करने लगी। एक बार रातमें वे दोनों लेट गये, पर बत्ती जलती रह गयी तो सिपाहीने उससे कहा कि तू बत्ती बन्द कर दे। उसने लेटे-लेटे ही अपना हाथ लम्बा

करके बत्ती बन्द कर दी। अब सिपाहीको पता लगा कि यह कोई सामान्य स्त्री नहीं है, यह तो चुड़ैल है! वह बहुत घबराया। चुड़ैलने उसको धमकी दी कि अगर तू किसीको मेरे बारेमें बतायेगा तो मैं तेरेको मार डालूँगी। इस तरह वह रोज रातमें आती और सबेरे चली जाती। सिपाहीका शरीर दिन-प्रतिदिन सूखता जा रहा था। लोग उससे पूछते कि भैया! तुम इतने क्यों सूखते जा रहे हो? क्या बात है, बताओ तो सही! परन्तु चुड़ैलके डरके मारे वह किसीको कुछ बताता नहीं था। एक दिन वह दुकानसे दवाई लाने गया। दुकानदारने दवाईकी पुड़िया बाँधकर दे दी। सिपाही उस पुड़ियाको जेबमें डालकर घर चला आया। रातके समय जब वह चुड़ैल आयी, तब वह दूरसे ही खड़े-खड़े बोली कि तेरी जेबमें जो पुड़िया है, उसको निकालकर फेंक दे। सिपाहीको विश्वास हो गया कि इस पुड़ियामें जरूर कुछ करामात है, तभी तो आज यह चुड़ैल मेरे पास नहीं आ रही है! सिपाहीने उससे कहा कि मैं पुड़िया नहीं फेकूँगा। चुड़ैलने बहुत कहा, पर सिपाहीने उसकी बात मानी नहीं। जब चुड़ैलका उसपर वश नहीं चला, तब वह चली गयी। सिपाहीने जेबमेंसे पुड़ियाको निकालकर देखा तो वह गीताका फटा हुआ पन्ना था! इस तरह गीताका प्रभाव देखकर वह सिपाही हर समय अपनी जेबमें गीता रखने लगा। वह चुड़ैल फिर कभी उसके पास नहीं आयी।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥ ७२॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**चेतसा**	= चित्तसे	**कच्चित्**	= क्या
कच्चित्	= क्या	**एतत्**	= इसको	**ते**	= तुम्हारा
त्वया	= तुमने	**श्रुतम्**	= सुना? (और)	**अज्ञानसम्मोहः**	= अज्ञानसे उत्पन्न मोह
एकाग्रेण	= एकाग्र-	**धनञ्जय**	= हे धनञ्जय!	**प्रनष्टः**	= नष्ट हुआ?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

अर्जुन बोले—

अच्युत	= हे अच्युत!	**मया**	= मैंने	**स्थितः**	= स्थित
त्वत्प्रसादात्	= आपकी कृपासे (मेरा)	**स्मृतिः**	= स्मृति	**अस्मि**	= हूँ।
		लब्धा	= प्राप्त कर ली है।	**तव**	= (अब मैं) आपकी
मोहः	= मोह	**गतसन्देहः**	= (मैं) सन्देहरहित होकर	**वचनम्**	= आज्ञाका
नष्टः	= नष्ट हो गया है (और)			**करिष्ये**	= पालन करूँगा।

विशेष भाव—लौकिक स्मृति तो विस्मृतिकी अपेक्षासे कही जाती है, पर अलौकिक तत्त्वकी स्मृति विस्मृतिकी अपेक्षासे नहीं है, प्रत्युत अनुभवरूप है। इस तत्त्वकी निरपेक्ष स्मृति अर्थात् अनुभवको ही यहाँ '**स्मृतिर्लब्धा**' कहा गया है।

वास्तवमें तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत विमुखता होती है। तात्पर्य है कि पहले ज्ञान था, फिर उसकी विस्मृति हो गयी— इस तरह तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती*। अगर ऐसी विस्मृति मानें तो स्मृति होनेके बाद फिर

* ज्ञान होनेपर नयापन कुछ नहीं दीखता अर्थात् पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—ऐसा नहीं दीखता। ज्ञान होनेपर ऐसा अनुभव होता है कि ज्ञान तो सदासे ही था, केवल मेरी दृष्टि उधर नहीं थी। अगर पहले अज्ञान था, पीछे ज्ञान हो गया—ऐसा मानें

विस्मृति हो जायगी! इसलिये गीतामें आया है—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्'** (४। ३५) अर्थात् उसको जान लेनेके बाद फिर मोह नहीं होता। अभावरूप असत्को भावरूप मानकर महत्त्व देनेसे तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हट गयी—इसीको विस्मृति कहते हैं। वृत्तिका हटना और वृत्तिका लगना—यह भी साधककी दृष्टिसे है, तत्त्वकी दृष्टिसे नहीं। तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हटनेपर अथवा विमुखता होनेपर भी तत्त्व ज्यों-का-त्यों ही है। अभावरूप असत्को अभावरूप ही मान लें तो भावरूप तत्त्व स्वत: ज्यों-का-त्यों रह जायगा।

विचार दो तरहका होता है। एक विचार करना होता है और एक विचार उदय होता है। जो विचार किया जाता है, उसमें तो क्रिया है, पर जो विचार उदय होता है, उसमें क्रिया नहीं है। विचार करनेमें तो बुद्धिकी प्रधानता रहती है, पर विचार उदय होनेपर बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अत: तत्त्वबोध विचार करनेसे नहीं होता, प्रत्युत विचार उदय होनेसे होता है। तात्पर्य है कि तत्त्वप्राप्तिके उद्देश्यसे सत्-असत्का विचार करते-करते जब असत् छूट जाता है, तब 'संसार है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं'—इस विचारका उदय होता है। विचारका उदय होते ही विवेक बोधमें परिणत हो जाता है अर्थात् संसार लुप्त हो जाता है और तत्त्व प्रकट हो जाता है; मानी हुई चीज मिट जाती है और वास्तविकता रह जाती है। विचारका उदय होनेको यहाँ **'स्मृतिर्लब्धा'** कहा गया है।

अपरा प्रकृति भगवान्की है। परन्तु हमने गलती यह की है कि अपराके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया अर्थात् उसको अपना और अपने लिये मान लिया। यह सम्बन्ध हमने ही जोड़ा है और इसको छोड़नेकी जिम्मेवारी भी हमारेपर ही है। अपराके साथ सम्बन्ध माननेसे ही भगवान्के नित्य-सम्बन्धकी विस्मृति हुई है और हम बन्धनमें पड़े हैं। इसलिये अपराके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही हमारा कल्याण होगा। अपरासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये 'शरीर मेरा और मेरे लिये नहीं है'—इस विवेकको महत्त्व देना है। विवेकको महत्त्व देनेसे 'अपरा मेरी और मेरे लिये है ही नहीं'—यह स्मृति प्राप्त हो जाती है।

अर्जुनको द्वैत अथवा अद्वैत तत्त्वका अनुभव नहीं हुआ है, प्रत्युत द्वैत-अद्वैतसे अतीत वास्तविक तत्त्वका अनुभव हुआ है। कारण कि द्वैत-अद्वैत तो मोह हैं*, जबकि अर्जुनका मोह नष्ट हो गया है।

जीव अनादिकालसे स्वत: परमात्माका है, केवल संसारके आश्रयका त्याग करना है। अर्जुनको मुख्य रूपसे भक्तियोगकी स्मृति हुई है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। इसलिये भक्तियोगकी स्मृति ही वास्तविक है। भक्तियोगकी स्मृति है—**'वासुदेवः सर्वम्'** अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं। **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करना **'स्मृतिर्लब्धा'** है। यह अनुभव केवल भगवत्कृपासे ही होता है—**'त्वत्प्रसादात्'**। वचन सीमित होते हैं, पर कृपा असीम होती है।

चिन्तनमें तो कर्तृत्व होता है, पर स्मृतिमें कर्तृत्व नहीं है। कारण कि चिन्तन मनसे होता है, मनसे परे बुद्धि है, बुद्धिसे परे अहम् है और अहम्से परे स्वरूप है, उस स्वरूपमें स्मृति होती है। चिन्तन तो हम करते हैं, पर स्मृतिमें केवल उधर दृष्टि होती है। विस्मृतिके समय भी तत्त्व तो वैसा-का-वैसा ही है। तत्त्वमें विस्मृति नहीं है, इसलिये उधर दृष्टि होते ही स्मृति हो जाती है।

'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः'—पहले क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना ठीक दीखता था, फिर गुरुजनोंके सामने आनेसे युद्ध करना पाप दीखने लगा; परन्तु स्मृति प्राप्त होते ही सब उलझनें मिट गयीं। मैं क्या करूँ? युद्ध करूँ कि नहीं करूँ?—यह सन्देह, संशय, शंका कुछ नहीं रही। मेरे लिये अब कुछ करना बाकी नहीं रहा, प्रत्युत केवल आपकी आज्ञाका पालन करना बाकी रहा—**'करिष्ये वचनं तव'**। यही शरणागति है।

~~~

तो ज्ञानमें सादिपना आ जायगा, जबकि ज्ञान सादि नहीं है, अनादि है। जो सादि होता है, वह सान्त होता है और जो अनादि होता है, वह अनन्त होता है।

* **'द्वैताद्वैतमहामोहः'** (माहेश्वरतन्त्र)

'अहो माया महामोहौ द्वैताद्वैतविकल्पना॥' (अवधूतगीता १। ६१)
~~~

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

संजय बोले—

इति	= इस प्रकार	**महात्मनः**	= महात्मा		करनेवाला
अहम्	= मैंने	**पार्थस्य**	= पृथानन्दन अर्जुनका	**अद्भुतम्**	= अद्भुत
वासुदेवस्य	= भगवान् वासुदेव	**इमम्**	= यह	**संवादम्**	= संवाद
च	= और	**रोमहर्षणम्**	= रोमाञ्चित	**अश्रौषम्**	= सुना।

विशेष भाव—गीतामें 'महात्मा' शब्द केवल भक्तोंके लिये आया है। यहाँ संजयने अर्जुनको भी 'महात्मा' कहा है; क्योंकि वे अर्जुनको भक्त ही मानते हैं। भगवान्ने भी कहा है—'**भक्तोऽसि मे**' (गीता ४। ३)।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ७५॥

व्यासप्रसादात्	= व्यासजीकी कृपासे	**परम्**	= परम	**साक्षात्**	= साक्षात्
अहम्	= मैंने	**गुह्यम्**	= गोपनीय	**योगेश्वरात्**	= योगेश्वर
स्वयम्	= स्वयं	**योगम्**	= योग (गीता-ग्रन्थ) को	**कृष्णात्**	= भगवान् श्रीकृष्णसे
एतत्	= इस	**कथयतः**	= कहते हुए	**श्रुतवान्**	= सुना है।

विशेष भाव—अर्जुनने '**त्वत्प्रसादात्**' कहा है (१८। ७३) और संजयने '**व्यासप्रसादात्**' कहा है। अर्जुनको भगवान्की कृपासे दिव्य दृष्टि मिली थी और संजयको व्यासजीकी कृपासे।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ ७६॥

राजन्	= हे राजन्!	**पुण्यम्**	= पवित्र	**संस्मृत्य, संस्मृत्य**	= याद कर-करके (मैं)
केशवार्जुनयोः	= भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके	**च**	= और		
		अद्भुतम्	= अद्भुत	**मुहुर्मुहुः**	= बार-बार
इमम्	= इस	**संवादम्**	= संवादको	**हृष्यामि**	= हर्षित हो रहा हूँ।

विशेष भाव—भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस संवादमें जो तत्त्व भरा हुआ है, वह किसी ग्रन्थ, महात्मा आदिसे सुननेको नहीं मिला। यह भगवान् और उनके भक्तका बड़ा विलक्षण संवाद है। इतनी स्पष्ट बातें और जगह पढ़ने-सुननेको मिलती नहीं। इस संवादमें युद्ध-जैसे घोर कर्मसे भी कल्याण होनेकी बात कही गयी है। हरेक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका मनुष्य हरेक परिस्थितिमें अपना कल्याण कर सकता है—यह बात इस संवादसे मिलती है। इसलिये यह संवाद बड़ा अद्भुत है—'**संवादमिममद्भुतम्**'। केवल संवादमें ही इतनी विलक्षणता है, फिर इसके अनुसार आचरण करनेका तो कहना ही क्या है!

भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी बड़ी विचित्र है*, उसमें भी भगवान्ने योगमें स्थित होकर गीता कही है†, फिर इसकी विचित्रता-विलक्षणताका तो कहना ही क्या है! भगवान्के द्वारा कौरव-सभामें होनेवाले राजनीतिक व्याख्यानमें भी इतनी विलक्षणता थी कि ऋषि-मुनि उसको सुननेके लिये जाते हैं‡, फिर यह (गीता) तो पारमार्थिक संवाद है! श्रीमद्भागवतमें भी जब उद्धवजीने देखा कि भगवान् प्रश्नोंका उत्तर बड़ी विलक्षण रीतिसे देते हैं, तब उन्होंने एक साथ पैंतीस प्रश्न कर दिये (श्रीमद्भा० ११। १९। २८—३२)!

'**हृष्यामि च मुहुर्मुहुः**—कर्म-ज्ञान-भक्तिकी ऐसी विलक्षण बातें और जगह सुननेको मिली ही नहीं, इसलिये इनको सुनकर संजय बार-बार हर्षित होते हैं।

संजय भगवान्को जाननेवाले थे। धृतराष्ट्रके द्वारा इसका कारण पूछे जानेपर संजयने उनको बताया था—

मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे।
शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम्॥

(महाभारत, उद्योग० ६९। ५)

'महाराज! आपका कल्याण हो। मैं कभी माया (छल-कपट)का सेवन नहीं करता। व्यर्थ (पाखण्डपूर्ण) धर्मका आचरण नहीं करता। भगवान्की भक्तिसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है; अतः मैं शास्त्रके वचनोंसे भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको यथावत् जानता हूँ।'

इस प्रकार पहले तो संजय शास्त्रके वचनोंसे भगवान्को जानते थे, पर अब वे साक्षात् भगवान्के वचनोंसे उनको जान गये!

~~~~

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥ ७७॥

राजन्	=हे राजन्!	**रूपम्**	=विराट्रूपको	**विस्मयः**	=आश्चर्य (हो रहा है)
हरेः	=भगवान् श्रीकृष्णके	**च**	=भी		
तत्	=उस	**संस्मृत्य, संस्मृत्य**	=याद कर-करके	**च**	=और (मैं)
अति	=अत्यन्त	**मे**	=मुझे	**पुनः, पुनः**	=बार-बार
अद्भुतम्	=अद्भुत	**महान्**	=बड़ा भारी	**हृष्यामि**	=हर्षित हो रहा हूँ।

* **वाचं तां वचनार्हस्य शिक्षाक्षरसमन्विताम्।**
अश्रोषमहमिष्टार्थां पश्चाद्धृदयहारिणीम्॥ (महाभारत, उद्योग० ५९। १७)

'(संजय बोले—) तत्पश्चात् मैंने बातचीतमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णकी वह वाणी सुनी, जिसका एक-एक अक्षर शिक्षाप्रद था। वह अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाली तथा मनको आकर्षित कर लेनेवाली थी।'

† **न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥**
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया। (महाभारत, आश्व० १६। १२-१३)

'(भगवान् बोले—) वह सब-का-सब उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात भी नहीं है। उस समय योगयुक्त होकर मैंने परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था।'

‡ **धर्मार्थसहिता वाचः श्रोतुमिच्छाम माधव॥**
त्वयोच्यमानाः कुरुषु राजमध्ये परन्तप।

(महाभारत, उद्योग० ८३। ६८-६९)

'(परशुरामजी बोले—) शत्रुओंको संताप देनेवाले माधव! वहाँ कौरवों तथा अन्य राजाओंकी मण्डलीमें आपके द्वारा कही जानेवाली धर्म और अर्थसे युक्त बातोंको हम सुनना चाहते हैं।'
~~~~

विशेष भाव—भगवान्‌ने अपना विराट्‌रूप सीमित दिखाया था। अगर अर्जुन न घबराते तो भगवान् और भी रूप दिखाते। पर उतनेसे ही संजय बड़ा आश्चर्य कर रहे हैं।

भगवान्‌के विषयमें पहले तो संजयने शास्त्रमें पढ़ा, फिर अद्‌भुत संवाद सुना और फिर अति अद्‌भुत विराट्‌रूप देखा। तात्पर्य है कि शास्त्रकी अपेक्षा श्रीकृष्णार्जुन-संवाद अद्‌भुत था और संवादकी अपेक्षा भी विराट्‌रूप अद्‌भुत था। इसलिये संजयने संवादको अद्‌भुत कहा— '**संवादमिममद्भुतम्**' (१८।७६) और विराट्‌रूपको अत्यन्त अद्‌भुत कहा—'**रूपमत्यद्‌भुतम्**'।

~~~

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

यत्र	= जहाँ		धनुषधारी	**ध्रुवा**	= अचल
योगेश्वरः	= योगेश्वर	**पार्थः**	= अर्जुन हैं,	**नीतिः**	= नीति है—
कृष्णः	= भगवान् श्रीकृष्ण हैं	**तत्र**	= वहाँ ही		
	(और)	**श्रीः**	= श्री,	**मम**	= (ऐसा)
यत्र	= जहाँ	**विजयः**	= विजय,		मेरा
धनुर्धरः	= गाण्डीव-	**भूतिः**	= विभूति (और)	**मतिः**	= मत है।

~~~

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

~~~
~~~

गीतामें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके अनेक साधन बताये हैं। जिससे मनुष्यका कल्याण हो जाय, ऐसी कोई भी युक्ति, उपाय भगवान्‌ने बाकी नहीं रखा है। अनन्त मुखोंसे कही जानेवाली बातको भगवान्‌ने एक मुखसे गीतामें कह दिया है! इसलिये गीताके टीकाकार श्रीधरस्वामी लिखते हैं—

शेषाशेषमुखव्याख्याचातुर्यं त्वेकवक्त्रतः।
दधानमद्भुतं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

'शेषनागके द्वारा अपने अशेष मुखोंसे की जानेवाली व्याख्याके चातुर्यको जो एक मुखसे ही धारण करते हैं, उन अद्भुत परमानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है। इसका अध्ययन करनेपर नये-नये भाव मिलते हैं और मिलते ही चले जाते हैं। हाँ, अगर कोई विद्वत्ताके जोरपर गीताका अर्थ समझना चाहे तो नहीं समझ सकेगा। अगर गीता और गीतावक्ताकी शरण लेकर उसका अध्ययन किया जाय तो गीताका तात्त्विक अर्थ स्वतः समझमें आने लगता है।

—'साधन-सुधा-सिन्धु' ग्रन्थसे

मनुष्यमात्रके भीतर स्वतः यह भाव रहता है कि मैं बना रहूँ, कभी मरूँ नहीं। वह अमर रहना चाहता है। अमरताकी इस इच्छासे सिद्ध होता है कि वास्तवमें वह अमर है। अगर वह अमर न होता तो उसमें अमरताकी इच्छा भी नहीं होती। जैसे, भूख और प्यास लगती है तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसी वस्तु (अन्न और जल) है, जिससे वह भूख-प्यास बुझ जाय। अगर अन्न-जल न होता तो भूख-प्यास भी नहीं लगती। अतः अमरता स्वतःसिद्ध है।

—'अमरताकी ओर' पुस्तकसे

'काम' (लौकिक शृङ्गार) में स्त्री और पुरुष दोनों ही एक-दूसरेसे सुख लेना चाहते हैं, एक-दूसरेको अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। इसलिये उनमें विशेष सावधानी रहती है और वे अपने शरीरको सजाते हैं। परन्तु 'प्रेम' में सुख लेनेका अपनी ओर खींचनेका किंचिन्मात्र भी भाव न होनेसे यह सावधानी नहीं रहती, प्रत्युत अपने शरीरकी भी विस्मृति हो जाती है, इसीलिये गोपियाँ अपनेको सजाना, शृङ्गार करना भूल गयीं और वंशीध्वनि सुनते ही वे जैसी थीं, वैसी ही अस्त-व्यस्त वस्त्रोंके साथ चल पड़ीं।

—'अलौकिक प्रेम' पुस्तकसे

मृत्युकालकी सब सामग्री तैयार है। कफन भी तैयार है, नया नहीं बनाना पड़ेगा। उठानेवाले आदमी भी तैयार हैं, नये नहीं जन्मेंगे। जलानेकी जगह भी तैयार है, नयी नहीं लेनी पड़ेगी। जलानेके लिये लकड़ी भी तैयार है, नये वृक्ष नहीं लगाने पड़ेंगे। केवल श्वास बन्द होनेकी देर है। श्वास बन्द होते ही यह सब सामग्री जुट जायगी। फिर निश्चिन्त कैसे बैठे हो?

X X X X

चेत करो! यह संसार सदा रहनेके लिये नहीं है। यहाँ केवल मरने-ही-मरनेवाले रहते हैं। फिर पैर फैलाये कैसे बैठे हो?

X X X X

विचार करो, क्या ये दिन सदा ऐसे ही रहेंगे?

—'अमृत-बिन्दु' पुस्तकसे